मराठी और हिंदी दलित कहानियों में मानवाधिकारों के प्रश्न

अजमेर सिंह काजल

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के बाद उसकी आर्थिक और सामाजिक परिषद की पहली बैठक में मानव अधिकार आयोग की स्थापना की गई थी। इस आयोग का काम 10 जून, 1948 को समाप्त हो गया और 10 दिसम्बर, 1948 को संयुक्त राष्ट्र महासभा में 48 देशों द्वारा सर्वराष्ट्रीय मानव अधिकार घोषणापत्र निर्विरोध रूप से स्वीकार कर लिया गया था। महासभा ने अपने घोषणापत्र में कहा कि सभी राष्ट्रों के प्रत्येक मनुष्य और समाज की प्रत्येक संस्था के अधिकारों और उनकी प्रतिष्ठा का सम्मान समान आधार पर किया जाएगा। सर्वराष्ट्रीय मानव अधिकार घोषणापत्र में 30 धाराएँ हैं। इनमें कहा गया है कि सभी मनुष्य जन्म से स्वतंत्र हैं और प्रत्येक मनुष्य की प्रतिष्ठा और अधिकार समान है। अतः प्रत्येक मनुष्य सभी प्रकार के

अधिकारों और स्वतंत्रताओं को पाने का अधिकारी है। उनके मध्य नस्ल, जाति, वर्ण, लिंग, भाषा, धर्म, क्षेत्र, सामाजिक उत्पत्ति, राष्ट्रीयता, पद अथवा राजनीति के आधार पर भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। मानव अधिकार घोषणापत्र किसी भी व्यक्ति को दास बनाकर रखने, क्रूरतापूर्ण अमानवीय व्यवहार करने व शारीरिक यंत्रणा देने की मनाही करता है। वहीं क़ानून की दृष्टि से सभी मनुष्यों को समान समझे जाने, मनमाने ढंग से गिरफ़्तारी को रोके जाने, प्रत्येक स्त्री-पुरुष को राष्ट्र, राष्ट्रीयता और धर्म के प्रतिबंध के बिना विवाह करने, धर्मोपासना व धर्म परिवर्तन करने, सूचना प्राप्त करने, विचार प्रकट करने, शांतिमय सभा करने व संगठन बनाने, अपने देश के किसी भी सार्वजनिक पद पर नियुक्त होने, सामाजिक सुरक्षा प्राप्त करने, शिक्षा प्राप्त करने, मनपसंद कार्य करने, समान कार्य के लिए समान वेतन पाने, राष्ट्रों, धर्मों, जातियों के मध्य सहिष्णुता और मैत्री को प्रोत्साहित करने, स्वतंत्रतापूर्वक सांस्कृतिक जीवन में भाग लेने तथा वैज्ञानिक, साहित्यिक अथवा कलाकृति से मिलने वाले लाभों की रक्षा करने की घोषणा करता है। सर्वराष्ट्रीय मानव अधिकार घोषणापत्र विश्व के प्रत्येक व्यक्ति को अधिकृत करता है कि वह दूसरे व्यक्तियों के जनतांत्रिक अधिकारों और स्वतंत्रताओं का सम्मान करते हुए जीवन जिये और कोई ऐसा कार्य न करे जिससे दूसरे व्यक्तियों के लिए सम्मानजनक जीवनयापन करने में बाधा उत्पन्न हो।'

भारतीय संविधान में मूल अधिकारों को संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान से लिया गया है और इनका वर्णन संविधान के भाग 3 में मूलभूत अधिकारों संबंधी अनुच्छेद 12 से 35 तक है। इनमें सभी नागरिकों के लिए समानता, स्वतंत्रता, शोषण के विरुद्ध अधिकार, धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार, संवैधानिक उपचारों का अधिकार इत्यादि प्रदान किए गए हैं। इसके अतिरिक्त दलितों, आदिवासियों और अन्य पिछड़े वर्गों, महिलाओं, बच्चों व सामाजिक-शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों के कल्याण एवं छुआछूत समाप्ति संबंधी प्रावधान भी मूलभूत अधिकारों का हिस्सा हैं। राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों के तहत समान काम के लिए समान वेतन, महिलाओं-विधवाओं और वृद्धों सहित समाज के आर्थिक रूप से कमज़ोर वर्गों को विकास के अवसर प्रदान करने संबंधी प्रावधान किए गए हैं। मानवाधिकार हर व्यक्ति का नैसर्गिक या प्राकृतिक अधिकार है जो उसे जन्म से ही मिलता है। इसके दायरे में जीवन, आज़ादी, बराबरी और सम्मान के अधिकार के साथ गरिमामय जीवन जीने का अधिकार एक प्रमुख अधिकार है। 'ह्यूमन राइट्स वॉच' की एक रिपोर्ट के अनुसार दलित और आदिवासी भेदभाव, बहिष्कार एवं सांप्रदायिक हिंसा के कृत्यों का लगातार सामना कर रहे हैं। भारतीय सरकार द्वारा अपनाए गए क़ानून और नीतियाँ सुरक्षा के मज़बूत आधार प्रदान करती हैं, लेकिन स्थानीय अधिकारियों द्वारा ईमानदारी से कार्यान्वित नहीं हो रही हैं।' विपुल आबादी मगर संसाधनों की भारी कमी, इसकी विविधताएँ और आर्थिक व सामाजिक-शैक्षिक पिछड़ापन के कारण इन समूहों के मानवाधिकार सुरक्षित नहीं हैं। दलितों को सामाजिक-आर्थिक शोषण और जातीय हिंसा से बचाने के लिए 1989 से

अनुसूचित जाति-जनजाति अत्याचार निवारक अधिनियम संपूर्ण देश में लागू है। इसके अतिरिक्त भारतीय दंड संहिता के तहत मानवाधिकारों की सुरक्षा के प्रावधान किए गए हैं। विषमतावादी समाज और अर्थव्यवस्था ने एक बहुत बड़ी आबादी के इंसानी वजूद को छीन लिया है। इन्हें हिंसक वारदातों में आगजनी, हत्याएँ, ज़िंदा जलाने, महिलाओं की अस्मिताओं के प्रति क्रूर आचरण और न जाने कितनी तरह की मानसिक यातनाएँ झेलनी पड़ती हैं। इनके पक्ष में क़ानूनी प्रावधान होने के बावजूद अधिकतर सरकारें और अन्य एजेंसियाँ इन्हें न्याय और सुरक्षा देने में नाकाम हैं।

दलित सरोकार और मानवाधिकार

आधुनिक भारत में सबसे पहले शूद्र-अतिशूद्र यानि बहुजन मानवाधिकारों के सवाल जोतिराव फुले ने उठाए। उन्होंने *गुलामगिरी* का प्रारंभ होमर के प्रसिद्ध वाक्य से किया है – 'जिस दिन मनुष्य दासता ग्रहण करता है उसी दिन उसके सदगुणों का आधा भाग नष्ट हो जाता है।' समाज सुधार की परंपरा में जोतिराव की आवाज़ बहुत महत्त्वपूर्ण है जिनके जन जागरण का मक़सद समाज की जर्जर बुनियाद को उखाड़ फेंकना था। 1872 में प्रकाशित *गुलामगिरी* में मानव अधिकारों का ज़बरदस्त समर्थन है। चाहे फ्रांस की क्रांति से आए मूल्य हों या अमरीका में अब्राहम लिंकन द्वारा 1863 में इंसानी दासता के अंत के सवाल हों, हम देखते हैं कि फुले भारतीय समाज में मौजूद इन दोनों तरह की समस्याओं के विरुद्ध आवाज़ उठाकर सत्ता और समाज का ध्यान आकृष्ट करते हैं। भारत में शिक्षा सुधारों हेतु आए सर विलियम हंटर कमीशन के सामने किसानों, अछूतों और वंचितों की शिक्षा की माँग करते हुए जोतिराव 19 अक्तूबर,1882 को निवेदन देते हैं।

> 'सरकार ने निम्न वर्ग के लोगों को शिक्षा प्रदान करने के बुनियादी कर्तव्य की उपेक्षा की है। ...वह अशिक्षित इसलिए हैं क्योंकि शिक्षा संस्थानों का अभाव है। ये किसान और दूसरे ग़रीब इंसान शिक्षा का लाभ नहीं उठा पाते।...सरकार ने इन किसानों की संतानों के लिए न इनाम रखे हैं न ही छात्रवृत्तियाँ। ....मेरी तो यह राय है कि जनता के कल्याण के लिए प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी जाए। ...पुणे शहर में, महार और माँग जाति के पाँच हज़ार लोग बसते हैं, केवल एक ही पाठशाला है, जिसमें उनके बच्चे पढ़ सकते हैं। लेकिन उस स्कूल में केवल तीस बच्चे ही उपस्थित रहते हैं। शिक्षा विभाग के लिए भी यह बात अशोभनीय है। इसलिए मैं सरकार से निवेदन करता हूँ कि जिन-जिन गाँवों में निम्न जाति के लोग बसते हों वहाँ उनके बच्चों के लिए पृथक स्कूल खोले जाएँ क्योंकि जातीय विद्वेष के कारण उनका अन्य जाति के बच्चों के साथ बैठना संभव नहीं है। ...शिक्षा विभाग पर आगामी अनेक वर्षों तक सरकार का ही नियंत्रण होना चाहिए। ...बंबई विश्वविद्यालय की प्रशंसा करते हुए फुले ने कहा, 'यह महाराष्ट्र की जनता के लिए बहुत बड़ा वरदान है। ...छात्रवृत्ति देने के लिए ऐसी नीति निर्धारित की जाए कि जिस समाज के लोगों में शिक्षा का अधिक विकास नहीं हुआ है उस वर्ग के विद्यार्थियों को

छात्रवृत्तियाँ प्राप्त हो सकें। ...आयोग ने पारसियों, ईसाइयों और ब्राह्मणों की बातें सुनीं और उन पर ही सारा भरोसा रखा और समिति ने इस मेहनत करने वाले समुदाय की ओर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने उच्च वर्ग के लोगों के सम्मान पत्र स्वीकार किए और उन्हीं के बयान लिए हैं।'

संविधान सभा में जवाहरलाल नेहरू द्वारा संविधान के लक्ष्यों पर पेश किए गए प्रस्ताव पर बंगाल से चुनकर आए डॉ. आंबेडकर ने 17 दिसंबर, 1946 को कहा था – 'अध्यक्ष महोदय, मैं यह अवश्य स्वीकार करूँगा कि समाजवादी की हैसियत से मशहूर पं. जवाहरलाल नेहरू की ओर से आए इस प्रस्ताव से मुझे बड़ी निराशा हुई, यद्यपि यह विवाद-मूलक नहीं है। ...हम सभी इस बात को जानते हैं कि अधिकारों का कोई महत्त्व नहीं यदि उनकी रक्षा की व्यवस्था न हो ताकि अधिकारों पर जब कुठाराघात हो तो लोग उनका बचाव कर सकें। ... हम निश्चय रूप से यह नहीं जानते कि इन मौलिक अधिकारों की क्या स्थिति होगी अगर ये शासन प्रबंध की मर्जी पर छोड़ दिए जाते हैं। प्रस्ताव में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की व्यवस्था भी रखी गई है। यदि प्रस्ताव में कोई वास्तविकता है, इसमें कोई सच्चाई है और इसकी सच्चाई पर मुझे जरा भी शक नहीं है क्योंकि उसे उपस्थित किया है माननीय पंडित जवाहरलाल नेहरू ने, तो मैं यह उम्मीद करता हूँ कि इसमें कुछ ऐसी व्यवस्था भी होनी चाहिए थी जिससे राज्य के लिए यह संभव हो जाता है कि वह सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय प्रदान कर सकता। और इसी विचार से मैं इस बात की आशा करता कि प्रस्ताव साफ़-साफ़ शब्दों में कहता, कि ताकि सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय प्रदान किया जा सके। देश के उद्योग-धंधों और भूमि का राष्ट्रीयकरण किया जाएगा। मेरी समझ में नहीं आता कि जब तक देश की अर्थ-नीति समाजवादी नहीं होती किसी भी हुकूमत के लिए यह सब कैसे संभव होगा कि वह सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय प्रदान कर सके। अतः व्यक्तिगत रूप से मुझे इन सिद्धांतों के सन्निहित किए जाने पर कोई आपत्ति नहीं है। फिर भी प्रस्ताव मेरे लिए निराशाजनक ही है।'

प्रख्यात फुले-आंबेडकरी अध्येता गेल ऑम्वेट इकॉनॉमिस्ट में प्रकाशित 'द हिंदू अनसर्ज' लेख के हवाले से कहती हैं – 'हिंदू कौन हैं? इसका उतर आश्चर्यजनक रूप से काफ़ी जटिल है। हज़ारों वर्ष पूर्व, मध्य एशिया से आर्य लोग भारतीय उपमहाद्वीप में आए और स्थानीय जनजातियों को पराजित करके यहीं बस गए। आर्यों के पवित्र ग्रंथ, वेदों में उनके अनेक देवी-देवताओं के दर्शन, प्रार्थनाएँ और कहानियाँ लिखी थीं। आर्यों के यहाँ के मूलनिवासियों के साथ मिश्रित हो जाने के बाद, वैदिक साहित्य में अनेक स्थानीय आस्थाएँ और दूसरे देवी-देवता शामिल हो गए। देवी-देवताओं और आस्थाओं के इस शिथिल समूह को हिंदू धर्म कहा जाने लगा।' कांचा इलैय्या के अनुसार 'ब्राह्मणों के रूढ़िवादी आध्यात्मिक तंत्र को हिंदू पहचान देने का श्रेय मुस्लिम विद्वानों, और उनमें भी ख़ास कर अल बरूनी को जाता है। उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *अल-हिंद* लिखी जिसमें इस शब्द को गढ़ा और जिसे हिंदू राजाओं और आध्यात्मिक ताक़तों ने न सिर्फ़ स्वीकार किया बल्कि अपना लिया। हिंदू पद की उत्पति

भी धर्म के किसी पैग़ंबर या उसकी किसी धार्मिक रचना से नहीं हुई जैसा कि हम इसाई धर्म, बौद्ध या इस्लाम धर्म में देखते हैं।' 'हिंदू शब्द के कई अर्थ और मुसलमान शासकों व अंग्रेज़ों द्वारा उनके प्रयोग व हिंदू शब्द के सवर्णों, पिछड़ों, दलितों, आदिवासियों की पहचान हेतु अपनाने से ब्राह्मण संस्कृति और भारतीय संस्कृति' जो भिन्न-भिन्न राष्ट्रीयताएँ थीं, उनमें भारी भ्रम पैदा हो गया। सन् 1911 की जनगणना के समय पहली बार ब्राह्मण नेताओं ने अंग्रेज़ सरकार पर दबाव डाला कि सभी कायस्थ, पिछड़े, आदिवासी हिंदू लिखे जाएँ। भारतीय इतिहास की यह छोटी घटना है। संस्कृति के इतिहास में यह मामूली-सा दिखने वाला हेर-फेर इस देश की ऐतिहासिक वास्तविकता को ध्वस्त करने में कामयाब हो गया। जिस देश का इतिहास हिंदू इतिहास नहीं था, वह हिंदू घोषित हो गया। जो विचार परंपरा हिंदू विचार परंपरा नहीं थी, वह हिंदू विचार परंपरा मान ली गई। दरअसल भारतीय उपमहाद्वीप का ऐतिहासिक-सामाजिक-सांस्कृतिक चित्र आज तक दुनिया ने वह देखा जो ब्राह्मण ने दिखाना चाहा।' बाबा साहेब आंबेडकर सवाल उठाते हैं कि 'भारत में कोई वॉल्टेयर क्यों पैदा नहीं हुआ?...उलटे यहाँ विषमता को संरक्षण देने वाली *मनुस्मृति* क्यों लिखी गई? जिस संस्कृति में इंसानी समानता का विरोध हो, वेद-शास्त्रों के नाम पर हिंसा का समर्थन हो, वह महान कैसे हो सकती है? *रेवोल्यूशन ऐंड काउंटर रेवोलूशन इन एंशियंट इंडिया* में वे इन प्रश्नों पर मंथन करते हैं। भारत का इतिहास कई संस्कृतियों से गुज़रते हुए हमारे बीच है। आंबेडकर की इतिहास दृष्टि पर कँवल भारती लिखते हैं, 'आंबेडकर पहले भारतीय इतिहासकार हैं, जिन्होंने इतिहास में दलितों की स्थिति को रेखांकित किया है। उन्होंने इतिहास लेखन में दो तथ्यों को स्वीकार किए जाने की बात की है। पहली बात यह स्वीकार कर लेनी चाहिए कि एक समान भारतीय संस्कृति जैसी कोई चीज़ कभी नहीं रही और यह कि भारत तीन प्रकार का रहा-ब्राह्मण भारत, बौद्ध भारत, और हिंदू भारत। इनकी अपनी-अपनी संस्कृतियाँ रही हैं। दूसरी बात यह स्वीकार की जानी चाहिए कि मुसलमानों के आक्रमण से पहले भारत का इतिहास ब्राह्मणवाद और बौद्ध धर्म के अनुयायियों के बीच परस्पर संघर्ष का इतिहास रहा है। जो इन दो तथ्यों को स्वीकार नहीं करता, वह भारत का सच्चा इतिहास, जो युग के अर्थ और उद्देश्य को स्पष्ट कर सके, कभी नहीं लिख सकता।' 'बौद्ध धर्म एक क्रांति थी। यह उतनी ही महान क्रांति थी, जितनी फ़्रांस की क्रांति। यद्यपि यह धार्मिक क्रांति के रूप में प्रारंभ हुई, तथापि यह धार्मिक
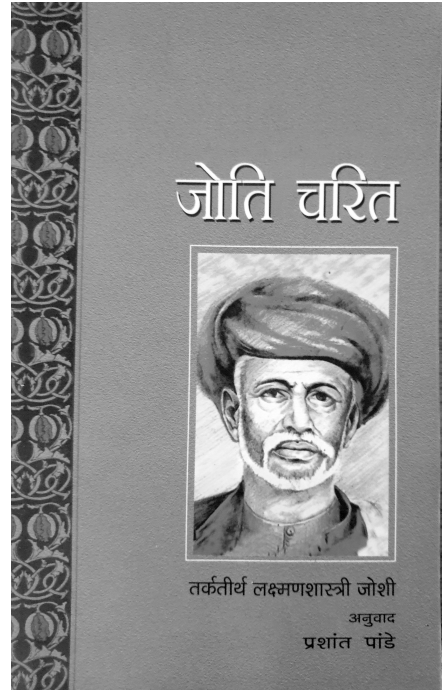
क्रांति से बढ़कर थी। यह सामाजिक और राजनैतिक क्रांति बन गई थी।'

दलित पैंथर गणतंत्र के बाद दलित समाज के मानवाधिकारों या नागरिक अधिकारों की प्राप्ति न होने से उपजा असंतोष और आक्रोश था जो समता, स्वतंत्रता, बंधुता विरोधी गली-सड़ी मानसिकता को दफ़न कर देना चाहता था। उन्होंने प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के क़ाफ़िले तक को रास्ता बदलने पर मजबूर कर दिया था। सांस्कृतिक संरचना में फैले शोषण के ख़िलाफ़ तथा आज़ादी की 25 वीं जयंती पर 'आज़ादी किस गधी का नाम है?' तथा 'सौ दिन बकरी बनके जीने से एक दिन शेर बनकर मर जाना बेहतर' जैसे सवाल उठाकर उन्होंने खलबली मचा दी थी। उनका कहना था जाति आधारित समाज वाले देश में आज़ादी कहाँ है? आज़ादी ने हमारे शोषण को समाप्त क्यों नहीं किया? संविधान लागू होने के बाद भी मानव-मानव में भेद क्यों है? आंबेडकरवादी युवाओं के इस आंदोलन ने संपूर्ण देश का ध्यान अपनी तरफ़ खींचते हुए डायरेक्ट ऐक्शन पर ज़ोर दिया। 'वर्ली का दंगा, गीता का दहन, शंकराचार्य पर जूता फेंकना, शिवसेना के साथ मार-पीट आदि के कारण लोगों का ध्यान 'दलित पैंथर' की ओर आकर्षित होने लगा। रिपब्लिकन पार्टी से विश्वास उठने से युवा विपक्ष, सत्तासीन कांग्रेस और ट्रेड यूनियन की भी बड़ी आलोचना कर रहे थे।'

आंबेडकर का मानना था कि लोकतंत्र से ही बिना रक्तपात के आर्थिक-सामाजिक जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन लाए जा सकते हैं। लोकतंत्र केवल मताधिकार से सरकार बनाने का नाम नहीं बल्कि यह इससे कहीं आगे की चीज़ है और जाति व्यवस्था जनित शोषण के चलते इसे कभी भी हासिल नहीं किया जा सकता। जाति के ध्वंस पर ही वर्ग का निर्माण संभव है लेकिन इस रास्ते पर न तो सरकार जाना चाहती है और न ही समाज और राजनीतिक दलों के नेता। हाँ, कुछ लोग हैं जो निरंतर प्रयास कर रहे हैं लेकिन समाज में इनकी संख्या बहुत कम है। ब्राह्मणवाद दुनिया के लिए एक बड़ा ख़तरा है और सामाजिक न्याय की विचारधारा को इस ख़तरे के ख़िलाफ़ आगे चलना पड़ेगा। 'अपनी ऐतिहासिक संभावनाओं को समझते हुए दलितों ने अपनी मुक्ति के लिए एक संघर्ष शुरू किया। उन्होंने सिर्फ़ अपने सबाल्टर्न वैज्ञानिक और उत्पादक शौर्य को ही नहीं समझा बल्कि यह भी जाना कि उन्हें अपनी एक संपूर्ण आध्यात्मिक हैसियत भी हासिल करनी चाहिए। साथ ही यह पता भी उन्हें चला कि ब्राह्मणवाद के जुए को अपने कंधों से उतारकर फेंकना संभव है। ...विद्रोह के एक अलग सिद्धांत और वैकल्पिक आध्यात्मिक विचारधारा के साथ आंबेडकर ने दलित-दर्शन का एक पाठ रचा जिसमें शूद्रों और आदिवासियों, दोनों की मुक्ति का संदेश है।' 'फुले और आंबेडकर जैसे जातिवाद विरोधी दोनों उग्रवादी नेताओं के ब्राह्मण मित्र भी थे, उन्होंने अपने स्वीकरण के लिए काफ़ी कठोर शर्तें लगाई थीं; फुले का कहना था कि आर्यभट्टों को 'तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता, जब तक वे अपने जाली धर्मग्रंथों को फेंक नहीं देते'; आंबेडकर का कहना था कि हिंदू धर्म को 'सभी स्मृतियों और शास्त्रों को त्याग कर बचाया जा सकता है।' आनंद तेलतुंबड़े दलित आंदोलन के नज़रिये से आंबेडकर को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं,

'उन्होंने कई लड़ाइयाँ छेड़ीं, शुरू में हिंदू धार्मिक संहिता के संरक्षक-ब्राह्मणवाद के क़िले को निशाना बनाया और उसकी प्रभावहीनता के अहसास होने पर बाद में संघर्ष का राजनीतिकरण किया। ...उनका संघर्ष न केवल सभी अछूतों की मुक्ति की ओर बल्कि पूरी जाति व्यवस्था के समूल नाश की ओर निर्देशित था। यह संघर्ष मूलतः सदियों से ज्यों के त्यों चले आ रहे निर्बाध शोषण के ख़िलाफ़ था। ...उदाहरणस्वरूप, पतनशील सामंतवाद के साथ-साथ वह पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के दमन से भली-भाँति चौकन्ने थे कि उसकी माँद में ही उनकी मूल समस्या मौजूद थी।' 'भारत का ब्राह्मणवाद एक तरफ़ सामंतवाद से समझौता करता है तो दूसरी तरफ़ पूँजीवाद से समझौता करके साम्राज्यवाद से हाथ मिला लेता है। यही कारण है कि भारत से ब्राह्मणवाद ख़त्म होने के बजाय और अधिक मज़बूत हुआ है। जब तक ब्राह्मणवाद है तब तक वर्ण व्यवस्था है और उसका वर्तमान स्वरूप जातिवाद है, इसी तरह जब तक वर्ण व्यवस्था है तब तक ब्राह्मणवाद ज़िंदा है क्योंकि ब्राह्मणवाद का असली नाम वर्ण व्यवस्था और जातिवाद है।'

इतिहासकार रामचंद्र गुहा आंबेडकर और गाँधी के मतभेद को रेखांकित करते हुए 'अछूतों ने गाँधी पर अविश्वास क्यों किया' नामक अध्याय में लिखते हैं–'गाँधी जी धर्मोपदेश या सीख देने की सीमाओं से बाहर नहीं जा सकते। इसकी जानकारी बंबई प्रेसीडेंसी के अछूतों को पहली बार 1929 में उस समय हुई जब उन्होंने मंदिर प्रवेश, कुओं-तालाबों से पानी लेने जैसे नागरिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए हिंदुओं के विरुद्ध सत्याग्रह किया। उन्हें गाँधी जी से समर्थन और आशीर्वाद मिलने की आशा थी, क्योंकि सत्याग्रह ग़लत कार्यों के समाधान के लिए स्वयं उनके द्वारा अपनाया जाने वाला तरीक़ा ही था। जब उन्होंने गाँधी जी से समर्थन माँगा तो उनके द्वारा समर्थन देना तो दूर, उलटे एक स्टेटमेंट जारी करके हिंदुओं के विरुद्ध सत्याग्रह करने पर अछूतों की निंदा कर डाली। गाँधी जी का यह व्यवहार चालाकी भरा था। उन्होंने कहा कि सत्याग्रह को अपने लोगों और देशवासियों के विरुद्ध नहीं, केवल विदेशी लोगों के विरुद्ध प्रयोग किया जाना चाहिए। चूँकि हिंदू अछूतों के संबंधी और देशवासी थे इसलिए उनके विरुद्ध इस औज़ार का प्रयोग किए जाने से अछूत बहिष्कृत कर दिए गए थे। यह मूर्खतापूर्ण आचरण की हद थी। इससे गाँधी ने सत्याग्रह को नॉनसेंस बना दिया था। गाँधीजी ने ऐसा क्यों किया था? केवल इसलिए कि वे हिंदुओं को नाराज़ और उत्तेजित नहीं करना चाहते थे।' नस्लवादी मामले की तरह जातिभेद संबंधी मामलों को भूमंडलीय मंच पर ले जाने, कल्याणकारी नतीजे निकालने का समर्थन करते हुए प्रख्यात राजनीतिक विज्ञानी रजनी कोठारी कहते हैं कि 'दलितों पर होने वाले अन्याय की प्राचीनता, उसको दी गई धार्मिक और शास्त्रोक्त मान्यता और उसके उन्मूलन की कोशिशों को अभी तक पूरी सफलता न मिल पाना इस बात का सबूत है कि अन्याय का यह रूप असल में नस्ली भेदभाव से भी गंभीर और जघन्य है।'

'इकनॉमिक सर्वे 2007-08 के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र के रोज़गारों में से केंद्र सरकार

द्वारा 39.27 लाख, राज्य सरकारों द्वारा 72.22 लाख, अर्ध सरकारी संगठनों द्वारा 58.22 लाख, स्थानीय निकायों द्वारा 21.26 लाख रोज़गार दिए गए थे, जिनकी कुल संख्या 181.97 लाख थी जबकि 1991 में देश भर के इन्हीं रोज़गारों की संख्या 190.57 लाख थी।' रोज़गार का साक्षरता और उच्चतर शिक्षा से निकटता का संबंध है। जिन समुदायों में इनका प्रतिशत अच्छा है वहाँ पर रोज़गार की दर भी अधिक है और जहाँ यह कम है वहाँ रोज़गार अपेक्षाकृत कम देखने को मिलते हैं। राजकीय क्षेत्र को सीमित करके निजी क्षेत्र को बढ़ावा दिए जाने की नीतियाँ बड़े स्तर पर लागू की जा रही हैं। 'निजी क्षेत्र, कृषि, उद्योग तथा सेवा क्षेत्र, 95 प्रतिशत से अधिक रोज़गार के अवसर पैदा करते हैं किंतु इस क्षेत्र के सभी काम उच्च जातीय हिंदुओं के हाथ में हैं।...जबकि लगभग सभी निम्नजातीय बहुसंख्यक लोग जो इस असंगठित क्षेत्र में काम करते हैं वे अपने जीवनयापन, अपनी आजीविका के लिए उच्च जातीय हिंदुओं पर निर्भर रहते हैं। निजी क्षेत्र में आरक्षण नीति लागू नहीं है। आरक्षण नीति केवल सार्वजनिक क्षेत्र की 4 प्रतिशत नियुक्तियों पर लागू है। इस क्षेत्र में भी निम्नजातीय बहुसंख्यक जनों को केवल मात्र 20 प्रतिशत पद दिए गए हैं, बाक़ी 80 प्रतिशत पद उच्चजातीय हिंदुओं ने हड़प लिए हैं। अतः इन क्षेत्रों में परिसंपत्तियों के स्वामी उच्च जातीय हिंदू हैं। इसके कारण केवल 2 प्रतिशत निम्नजातीय बहुसंख्यक लोग जो सरकारी क्षेत्र में रोज़गार करते हैं, वे ही समाज में सम्मानित जीवन जीते हैं। इसके विपरीत 98 प्रतिशत निम्नजातीय लोग निर्भरता का जीवन जीते हैं और उच्चजातीय हिंदुओं के शोषण का शिकार होते हैं।' कृषि योग्य भूमि का समान वितरण या सरकारी भूमि का भूमिहीनों में वितरण न किया जाना भी इसके लिए ज़िम्मेदार है। 'विश्व बैंक और युनेस्को द्वारा 2000 में उच्चतर शिक्षा व समाज के लिए नियुक्त कार्यदल ने सुझाव दिया था कि अधिक और उत्तम शिक्षा के बिना विकासशील देशों को वैश्विक ज्ञान आधारित अर्थव्यवस्था से लाभान्वित होने में मुश्किलें आएँगी। शिक्षा, ज्ञान और प्रशिक्षण के माध्यम से लोगों को सशक्तिकरण की तरफ़ ले जाने का एक औज़ार है। भारत में दलित और आदिवासी आबादी कुल आबादी का एक चौथाई है। यह अमेरिकी जनसंख्या के लगभग निकट, जापान की आबादी से दोगुनी, जर्मनी से तिगुनी और ब्रिटेन से चौगुनी अधिक है।'

ज्याँ द्रेज़ और अमर्त्य सेन ने भारतीय समाज की मूलभूत आवश्यकताओं, सामाजिक विषमताओं और विकास के प्रश्नों को चिह्नित करते हुए बताया है कि 'भारत में सामाजिक असमानता का जो स्वरूप है और यह जितना व्यापक है, उसने लोकतंत्र को बेहद कमज़ोर कर दिया है, ख़ासकर इसलिए कि लोकतंत्र का अर्थ केवल चुनावी राजनीति और नागरिक स्वाधीनताएँ नहीं हैं, साधनों का समतामूलक बँटवारा भी है। हाल के दिनों में भारत में सामाजिक असमानता के कुछ पहलू कमज़ोर हुए हैं लेकिन कुछ नए असंतुलन पैदा हो गए हैं जिनमें आर्थिक विषमता और कॉरपोरेट ताक़तों में बढ़ोत्तरी शामिल हैं।' वे पुनः कहते हैं 'स्कूली शिक्षा और सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा की निर्लज्ज उपेक्षा दर्शाती है कि भारतीय समाज वर्गों, जातियों, समुदायों आदि में किस क़दर बँटा हुआ है। हाल के दिनों में शासन

जिस तरह पहचान केंद्रित राजनीति को बढ़ावा देता रहा है उसके चलते इन विभाजनों को और मज़बूती ही मिली है। इसका नतीजा यह हुआ है कि बुनियादी कमज़ोरियों को दूर करना आसान होने के बजाय और कठिन हो गया है।'

अभी दो वर्ष पूर्व 2 अप्रैल, 2018 को संपूर्ण देश के दलित संगठनों ने अपने मानवाधिकारों की सुरक्षा में देशभर में अपने ख़िलाफ़ हो रहे ज़ुल्मों और एससी-एसटी ऐक्ट की सुरक्षा में राजनैतिक समर्थन के बिना सफल भारत बंद किया था जिसमें करोड़ों लोग सड़कों पर उतर आए थे। मगर मध्य प्रदेश, राजस्थान इत्यादि राज्यों में कई जगह दर्जन भर जानें चली गईं। इस अचानक फूटे आंदोलन से भय खाकर भारत सरकार ने सर्वोच्च न्यायालय के फ़ैसले की टिप्पणी को निरस्त करते हुए पूर्वस्थिति बहाल की थी। लेकिन संसाधनों पर क़ाबिज़ विषमतावादी लोग किसी न किसी तरह से हिंसा करते रहते हैं। जुलाई 2016 में गुजरात के उना में गाय के नाम पर सात दलित युवा मज़दूरों के ख़िलाफ़ बर्बर हिंसा का मामला हो या 2016 में हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय में दलित युवा रोहित वेमुला की सांस्थानिक हत्या का मामला हो, चाहे जनवरी 2018 को भीमा कोरेगाँव युद्ध की 200वीं वर्षगाँठ के अवसर पर हिंसा को लेकर मानवाधिकार कार्यकर्ताओं की गिरफ़्तारी हो, अख़लाक़, ज़ुनैद, पहलू ख़ान जैसे अनेक मुस्लिमों की हत्याएँ व मॉब लिंचिंग में अनेक निरपराध लोगों के मारे जाने या दिल्ली दंगों के सवाल हों। देखना है कि सामाजिक विषमताओं और सांप्रदायिक तनाव के दौर में दलित-बहुजन अपने मानवाधिकारों को फिर से हासिल करने में कहाँ तक सफल हो पाते हैं।
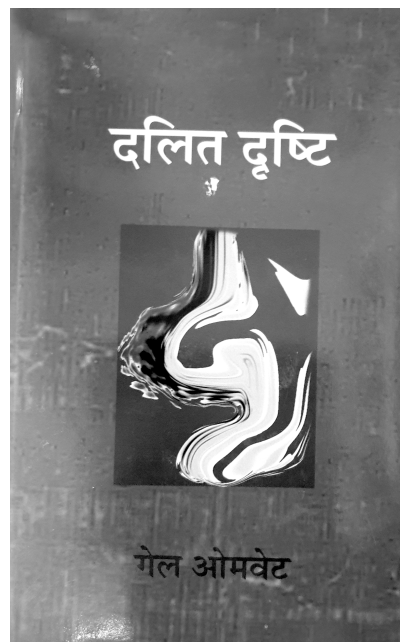
मराठी और हिंदी दलित कहानियों में मानवाधिकार

मराठी लेखक गंगाधर पानतावणे ने लिखा है, 'भाईयों! हमारे साहित्य की प्रेरणा केवल डॉ. बाबा साहब आंबेडकर और उनकी क्रांतिकारी विचारधारा है, इसमें कोई संदेह नहीं। कई समालोचक दलित साहित्य का रिश्ता कभी मार्क्सवाद से, कभी हिंदुत्ववाद से या नीग्रो साहित्य से जोड़ते हैं। मैं इस आंबेडकर मंच पर फिर एक बार दोहराता हूँ कि हमारे दलित साहित्य की प्रेरणा न मार्क्सवाद है, न हिंदुत्ववाद है, न नीग्रो साहित्य है। दलित साहित्य की प्रेरणा केवल आंबेडकरवाद है।' भारतीय भाषाओं में सबसे पहले मराठी में ही दलित साहित्य लेखन प्रारंभ होने का कारण यहाँ मनुष्यता की पक्षधरता यानि मानवाधिकारों के ऐसे प्रश्नों का

प्रखरता से उभरना था। असल में मानवाधिकार की बात करते समय यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि मानवाधिकार विरोधी आचरण और मूल्य कौन से हैं जिन्हें हिंदू जाति समाज हमेशा आगे रखता है। समाज व्यवस्था, धर्म व्यवस्था, अर्थ व्यवस्था, राज व्यवस्था क्यों नहीं चाहती कि सभी मनुष्यों को सामाजिक समानता, समान आर्थिक विकास, समान धार्मिक अधिकार या अंतरधर्मी समानता बिना भेदभाव के हासिल हो? जिस दिन सभी मनुष्यों को ये मानवाधिकार हासिल हो जाएँगे उसी दिन ब्राह्मणवाद मर जाएगा और दलित साहित्य अपना लक्ष्य हासिल करने में सफल होगा। दलित साहित्य का सौंदर्य समता-स्वतंत्रता-बंधुता में है। यह मानवाधिकारों का प्रबल समर्थक, पोषक और सामाजिक परिवर्तन का वाहक है। जाति आधारित विषमताओं ने मुट्ठी भर लोगों को मानवीय गरिमा देकर और शूद्र-अतिशूद्र समाज (दलित, आदिवासी, ओबीसी) की मानवीय गरिमा पर शास्त्रीय रोक लगाकर, उत्पादन कार्यों में लगे लोगों को हीन घोषित करके मानवता के ख़िलाफ़ जघन्य अपराध किए हैं जिससे भारत के नाम से पहचाने जाने वाले भू-भाग को हज़ारों साल ग़ुलामी में जीना पड़ा। 'दलित साहित्य भारतीय साहित्य में नई और विशिष्ट साहित्यिक धारा है। इस नई साहित्यिक धारा ने भारतीय साहित्य को समृद्ध किया है। दलित साहित्य ने भारतीय साहित्य को नए अनुभव, नई अनुभूति, नए शब्द, नए नायक, नई दृष्टि और वेदना-विद्रोह का रसायन दिया है। इतना ही नहीं इसने तो भारतीय साहित्य समीक्षा को आत्मपरीक्षण करने के लिए लगा दिया और पाठक समीक्षकों के मन में मूलभूत प्रश्न पैदा किए।'

मराठी दलित कहानियाँ

यहाँ मानवाधिकारों के प्रश्नों पर पाँच मराठी और पाँच हिंदी दलित कहानियों की आलोचना की गई है। मराठी कहानियों में बाबूराव बागुल की 'जब मैंने जाति छुपाई', बंधु माधव की 'ज़हरीली रोटी', दया पवार की 'सलीब', अर्जुन डांगले की 'बुद्ध ही मरा पड़ा है' और शरण कुमार लिंबाले की 'जाति न पूछो' को लिया गया है।

बाबूराव बागुल द्वारा लिखित 'जब मैंने जाति छुपाई' नामक लंबी कहानी जाति पोषित जड़ता को नए प्रयोग के साथ पेश करती है जहाँ कहानी का नायक कामगारों द्वारा जाति पूछने पर इसे बताने या इस मानसिकता का विरोध करने के बजाय हिंदू जाति आदर्शवाद ओढ़ लेता है और जिसे सुनकर सामने वाला हतोत्साहित होकर रास्ता बदल लेता है। सामाजिक समानता में जातीय बाधा और इस बाधा को एक ट्रिक से पछाड़ने के प्रयास को रेखांकित करते-करते कहानी नायक को ऐसे मुहाने पर ले जाकर छोड़ती है जहाँ उसके पास हिंसा से बचने का कोई विकल्प नहीं रहता। ग़ैर-बराबरी के जातीय सिद्धांत में ऐसा क्या है कि यह तथाकथित ऊँच-नीच का प्रतीक बनकर व्यक्ति का सामाजिक वजूद तय करने लगती है। सामाजिक जीवन के बेहद प्रासंगिक प्रश्नों को उभारने वाली कहानी भेदभाव और अपमान से बचने के लिए ठीक वैसे ही आदर्श वाक्यों को दोहराने लगती है जिसे दोहराकर तथाकथित प्रगतिशील लोग

सामाजिक प्रतिष्ठा और महानता का दर्जा पाते हैं, लेकिन कहानी के दलित नायक का क्या? वह ब्राह्मणवादी जाल में फँसकर शोषण से बचने का भरसक प्रयास करने के बावजूद अंत में अपने से कम प्रतिभावान मि. तिवारी और उसकी जातिवादी टीम से गालियाँ, लात-घूँसे और डंडे खाकर लहूलुहान होकर सामाजिक समानता को तार-तार होते देखता है। कहानी सवाल उठाती है कि दूसरा दलित पात्र काशीनाथ सकपाल अपनी सार्वजनिक पहचान के साथ कहानी में प्रवेश करता है और इसी वजह से वह कारख़ाने के कामगारों और बाबुओं की जातीय घृणा को बार-बार सहने को मजबूर है, लेकिन वह किसी से डरने के बजाय स्वाभिमान से रहता है और जातीय अपमान करने वालों को चुनौती देकर इंसानी हक़ हासिल करता है। उसका बार-बार चाक़ू निकालना हिंसा का पर्याय नहीं, बल्कि जातीय हीनता के बोध से अन्य व्यक्तियों के मानवाधिकार छीनने वाले मनोरोगियों के इलाज का एक विशेष उपाय है लेकिन यदि ये नहीं सुधरे तो ऐसी घटनाएँ बढ़ सकती हैं। काशीनाथ के डील-डौल, चाल-ढाल और बेख़ौफ़ व्यक्तित्व से जातिवादी कर्मचारी उसके सामने आने से डरते हैं। उनमें दंडित होने या नौकरी चले जाने का भय बढ़ने लगता है। मतलब साफ़ है कि या तो आप शारीरिक बल से डरते हैं या क़ानूनी बल से। राजनीतिक लोकतंत्र पर लोकतंत्र विरोधी तत्त्व हावी हैं। आंबेडकरी चेतना से सराबोर काशीनाथ सकपाल जहाँ रूढ़िवाद से निर्मित परपंरा पर प्रहार करते हैं, वहीं नायक आदर्शवादी ढाँचे को ओढ़कर प्रयासों के बावजूद अंत में जातीय पहचान खुलने पर बुरी तरह से मारा-पीटा जाता है। क्या यह जाति छुपाने की मार है या जातिवादी कर्मचारियों और परिवारों से किए गए सामाजिक लेन-देन का बदला?

मुंबइया कहानी नायक रेलवे कारख़ाने में प्रवेश करता है और हिंदू जाति कामगार रणछोड़ के सवाल का उसी की गुजराती में उत्तर देने के बाद ख़ुशियों के महासमुद्र में हिलोरें लेने ही लगता है कि रणछोड़ ने जाति पूछ ली। यह सवाल सुनकर नायक बरस पड़ा 'आपने मुझसे यह पूछने की जुर्रत कैसे की? मेरे हुलिए से आप अंदाज़ा नहीं लगा सकते? मैं... मुंबइया ...भारत को मुक्ति शक्ति दिलाने वाला प्रकाश-पुंज समझे? या फिर एक बार सुनाऊँ? अपनी महिमा का बखान करूँ? ...कम से कम मेरे सामने तो ऐसी बातें मत किया कीजिए। मैं नए देश का नया सिपाही हूँ। हम अब एक-से हैं। ऊँच-नीच, धेड़-चमार, ब्राह्मण आदि सब झूठ है ...इसीलिए तो सोने के अंडे देने वाला देश फटीचर बन गया है।' हिंदू कामगार जाति विरोधी ज़ोरदार वक्तव्य सुनकर अपने बचाव में उतर आया था। नायक के सम्मान, स्वाभिमान और आत्मविश्वास को देखकर उसने मान लिया कि यह निश्चित रूप से ठाकुर या ब्राह्मण ही होगा और अपना कमरा किराए पर दे दिया। हिंदू जाति के कामगार वही कर रहे हैं जिसकी सामाजिक स्वीकृति है। देखा जाए तो पाएँगे कि ब्राह्मणवादी जिस औज़ार से दलितों पर हावी होते हैं यदि वही आत्मविश्वास दलितों में आ जाए तो वे भ्रमित होकर अपना जंगली व्यवहार केवल उस व्यक्ति के प्रति तो छोड़ देते हैं, लेकिन उनका सामान्य आचरण नहीं बदलता। 'अरे भाई, जाति-बिरादरी वालों के साथ तो हरी दूब बनकर रहना चाहिए, न कि लंबा ताड़? और

फिर आप जैसा आदमी धेड़-चमार के घर में थोड़े ही रह सकेगा?' प्रश्न उठता है अपने मुँह पर ही अपनी सामाजिक हैसियत की गाली सुनने के बाद भी नायक कोई प्रतिक्रिया क्यों नहीं देते? यद्यपि उसमें एक कसमसाहट ज़रूर पैदा होती है। यह पलायनवादी प्रवृत्ति अपनी बंद पहचान खुलने से होने वाले निश्चित अपमान को लेकर है, लेकिन उसे काशीनाथ की बोल्डनेस से बड़ा सहारा मिलता है। नायक के प्रगतिशील हिंदू होकर भी मन ही मन अपनी दलित हैसियत पर चिंतित होने से साबित होता है कि वर्ण-धर्म में जातीय प्रभुता ही अंतिम सत्य है।

कैंटीन में 'महार! महार!' की आवाज़ों और प्रदर्शित घृणा ने नायक का हाव-भाव बिगाड़ दिया था। 'गरुड़ पक्षी की भाँति कुलाँचे भरता मेरा मन धम्म से नीचे आ गिरा। मेरा हर्षोत्फुल शरीर मानो विकलांग हो गया। मेरे ख़ून की गर्मी जैसे बर्फ़ बन गई। यह शब्द विकट हास्य करते हुए मुझे डरा रहा था। मैं दीवार बना खड़ा था। ...तभी रणछोड़ का यह सवाल मुझे सुनाई पड़ा, 'तिवारी जी, महार किसे कहते हैं? महार यानि महाराष्ट्रियन श्री शिवाजी के वंशज लड़ाकू।' 'जी नहीं पंडित जी। मैं आंबेडकर की जाति का हूँ। उन्हीं की बिरादरी का। मुझे काशीनाथ सकपाल कहते हैं।' सकपाल का जवाब नायक के डर और कँपकँपाहट को कम ज़रूर करता है, लेकिन काशीनाथ उसका सामना करते हुए अपने को सीधे आंबेडकर और अस्पृश्यता से जोड़कर ऐसी हिम्मत दिखाते हैं जो हिंदू कर्मचारियों को चुभती है। तिवारी धर्म घोषणा करता है – 'मारो साले धेड़ को।' 'मारो' भीतर बैठे सभी लोगों ने उसकी हाँ में हाँ मिलाई। काशीनाथ ने तुरंत चाय की प्याली नीचे पटक दी और दोनों हाथ जेब में डाल सीना तानकर कड़कते हुए कहा, 'आओ, कोई भी आओ तिवारी, तू आ, रणछोड़ तू आ, बुड्ढे तू आ, जाड़िए तू आ, कोई भी कित्ते भी लोग आओ। ...अभी जाकर तुम्हारे फोरमैन को इंडियन कांस्टिट्यूशन पढ़कर सुनाता हूँ। तुम सब लोगों को जेल की हवा खिलाऊँगा, दूध में से मक्खी की तरह नौकरी से निकलवा दूँगा। कोई मज़ाक़ थोड़े ही है। काशीनाथ ने बड़े ही रौब से कहा और शान से क़दम ब क़दम बाहर चला गया।' काशीनाथ की चुनौती सुनकर सभी हड़बड़ा गए, उनके लिए यह नए तरह का प्रतिरोध था, वे मैदान छोड़कर भागने लगे। जातिवादी पहले डराकर दलितों का आत्मविश्वास तोड़ने का प्रयास करते हैं लेकिन यदि समतावादी डरने के बजाय आत्मरक्षा में उन्हें ही डरा दें तो विषमतावादियों के पास भागने के सिवाय कोई विकल्प नहीं बचता। भारतीय दंड संहिता आत्मरक्षा में किए जाने वाले प्रहार पर ख़ास नज़र और दंड में रियायत देती है। काशीनाथ की चेतनामयी ललकार जातीय विषमतावादियों के ख़िलाफ़ एक नया प्रयोग है। नायक पर इसका सकारात्मक प्रभाव पड़ता है, लेकिन हिंदू जाति के कामगार नायक को सीनियर बनाने के लिए 'मुंबई के धेड़' से पहले हाज़िरी लगवाते हैं। क्या उपरोक्त माहौल में कोई फ़ैक्ट्री अपनी उत्पादकता बढ़ा सकती है? जहाँ कर्मचारी काम के बजाय नालायक़ी में उलझकर मारा-मारी पर उतरे हुए हों। दैनिक व्यवहार का हिस्सा बने इस रोग से निपटने के लिए समझ और सख़्ती की आवश्यकता है।

फ़ैक्ट्री फ़ोरमैन माता प्रसाद तिवारी को नायक के व्यवहार में जातीय गंध न होना या

काशीनाथ का विरोध न करना बिल्कुल नहीं सुहाता। जबकि नायक काशीनाथ की असलियत जानकर उससे जुड़ा रहना चाहता है। फ़ोरमैन के शब्द देखने लायक़ हैं – 'तुम तो अच्छी हिंदी बोल लेते हो। बिल्कुल ब्राह्मणों की-सी शुद्ध।' अपनी योग्यता नॉन-मैट्रिक बताने पर वह कहता है – 'यहीं तो मार खा जाते हैं लोग और धेड़-चमारों को मौक़ा मिल जाता है। वे फटाफट अफ़सर, मिनिस्टर बन जाते हैं। रेलवे में उन्हें तो इतनी सुविधाएँ हैं कि वो सूअर का बच्चा काशीनाथ यदि चाहे तो क्लर्क भी बन सकता है। है तो वह नॉन मैट्रिक ही। इसलिए तुम दोनों क्लीनर ही रहोगे, जबकि वह फ़ायरमैन, ड्राइवर, कंट्रोलर बन जाएगा। इसलिए तुम सर्टिफ़िकेट जल्दी से मँगवा लो। क्या समझे?' उपरोक्त बातचीत स्पष्ट संकेत देती है कि आरक्षित समुदायों के कामगारों के प्रति दफ़्तरों का व्यवहार कितना घटिया है। लोकतंत्र केवल मताधिकार नहीं है। लोकतंत्र की मज़बूती का अर्थ है सामाजिक-आर्थिक विषमताओं का अंत और प्रत्येक क्षेत्र में अवसर की समानता।

कहानी नायक मासिक वेतन के बाद सर्टिफ़िकेट जमा करवाने की छुट्टी लेकर मन ही मन नौकरी छोड़ने का निर्णय करता है। काशीनाथ तथाकथित उदार सवर्ण कामगार यानि नायक के सामने अपने आक्रोश का कारण बहन के प्रति पारिवारिक हिंसा को बताते हुए नौकरी छोड़कर आगे पढ़ना चाहता है। 'मैट्रिक की परीक्षा दूँगा। कॉलेज में जाऊँगा। वकील बनूँगा। मुझे कामगार नहीं बनना है। ये जीना भी कोई जीना है? पल-पल मरना...। यह सब कहते हुए उसकी आँखें जैसे अंगार उगल रही थीं।' कैसी राज व्यवस्था और समाज व्यवस्था है जिसमें लोकतांत्रिक भारत के दो कामगार नौकरी छोड़कर वापस जाना चाहते हैं। इसके पीछे सरकारी कार्यालयों और रेलवे फ़ैक्ट्रियों में मानवाधिकार विरोधी जातिवादी माहौल की मौजूदगी है। प्रताड़ित युवा कामगार बाबा साहब आंबेडकर से अपने को जोड़कर उच्च शिक्षा लेकर वकील बनने का सपने देखता है। उसे मालूम है ऐसी नौकरियों से कुछ बदलने वाला नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश वी.आर. कृष्णा अय्यर ने बहुत पहले कहा था कि जातिवाद से प्रताड़ित समाज को ज़्यादा संख्या में संवैधानिक और महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्ति देकर देश और समाज को सशक्त बनाया जा सकता है। सवाल यह है अपनी सामाजिक हैसियत पर गर्व करने वालों में अन्य की हैसियत का सार्वजनिक अपमान करने की हिम्मत कहाँ से आती है? जबकि दलित अपनी हैसियत को ब्राह्मणवादी सदाचार और प्रगतिवादी सोच में लपेटकर अपमान और हिंसा से बचने की कोशिश के बावजूद भी बच नहीं पाता। सवाल यह है कि ऐसे व्यवहार हिंदू जाति समाज के रोज़नामचे में शामिल क्यों है? क्या ऐसे व्यवहार किसी धर्म का हिस्सा होने लायक़ हैं? सवाल यह भी है कि प्रगतिशील होकर जातिवाद विरोधी संबोधनों से सवर्ण सम्मानित क्यों और दलित ऐसे ही संबोधनों से जातिवादी क्यों घोषित हो जाते हैं? कहानी बताती है कि संसाधन संपन्न हिंदू जाति समाज के एक हिस्से का मानसिक संतुलन बिगड़ना गंभीर बीमारी का लक्षण है। नागरिकों का मान-मर्दन और उनसे हिंसा करना बेहद अलोकतांत्रिक और समाज विरोधी काम है। लोकतंत्र समानता का मानवाधिकार देता है मगर

जातिवादी इसे छीन लेना चाहते हैं, तभी तो रणछोड़ के ऐसे व्यवहार पर काशीनाथ उसे ढेर करने की चेतावनी देता है। नायक की काशीनाथ से बढ़ती नज़दीकी से व्यथित होकर रामचरण तिवारी नायक को गुरु मानकर उसे भोजन कराने घर ले जाना चाहता था, मगर नायक बचना चाहता है। वह अपनी पहचान से पर्दा उठाने का प्रयास करता है लेकिन अचानक कोई घटना बातचीत के क्रम को ही बदल देती है। 'रामचरण, मुझे माफ़ करना। अब तक मैंने काफ़ी हलाहल पी लिया। अब और अधिक पचाने की हिम्मत नहीं रही...मैं वर्णचोरी का क़िस्सा सुनाना चाहता था।'

वसुधैव कुटुम्बकम का राग अलापने वाली संस्कृति की पोल उस वक़्त खुलती है जब नायक पर नींद में ही लात-घूँसों से प्रहार होने लगते हैं। 'मेरी आँख तब खुली, जब लात-घूसों से मैं कराह रहा था। रामचरण तिवारी का कमरा आदमियों से खचाखच भर गया था। उनमें से कुछ तो मुझे तरह-तरह की गालियाँ दे रहे थे, क्योंकि मैंने असली जाति छुपा रखी थी। कुछ 'संजीदा' क़िस्म के लोग भी उनमें थे, जो मेरी अच्छी तरह से मरम्मत कर रहे थे। जितना कट्टर भक्त था, उतना ही खूँखार दुश्मन बना रामचरण भी मुझ पर पिल पड़ा था।' तिवारी की पत्नी सरस्वती की मौजूदगी के बावजूद नायक की पिटाई बंद नहीं हुई लेकिन काशीनाथ की आहट पाकर चारों ओर भगदड़ मच गई थी। 'पलक झपकते ही पूरा कमरा ख़ाली हो गया। लोग एक-दूसरे से कहने लगे, वो, मुंबई का धेड़ मवाली हाथ में छुरा लेकर ख़ून की होली खेल रहा है। भागो।' इतने में काशीनाथ विद्युत गति से भीतर घुस आया और चक्कू नचाते हुए चिल्लाया, 'मास्टरजी, कमाल किया तुमने...। उसकी शाबाशी से भी मुझे पिटाई जितना ही गहरा घाव लगा।' यह प्रकरण एक ब्राह्मण स्त्री की संवेदना से परिचय करवाता है। यह सही है कि सभी को अपने प्रियजन अच्छे लगते हैं और उनके जीवन को सुरक्षित करने की सोचते हैं, लेकिन इंसानी गरिमा को तार-तार होते देखकर हमारी ज़िम्मेदारी बढ़ जाती है। जिसकी चरण वंदना हो रही थी, उससे होने वाले दुर्व्यवहार को रोकना सवर्ण स्त्री का भी फ़र्ज़ है। वह जातिवादी पति को बचाने के लिए काशीनाथ से मुक़ाबला करने को तैयार है। स्त्री की संवेदना में स्वार्थ है, मानवीयता नहीं, घाव साफ़ करने के पीछे नायक का विश्वास जीतकर काशीनाथ के चाक़ू से बचना और बचाना उसका उद्देश्य अधिक था। कहानी संकेत करती है कि नायक के जाते ही वह भययुक्त हो जाती है। यदि उसमें नायक को दी गई पीड़ा से संवेदना होती तो पति से माफ़ी मँगवाकर ही छोड़ती। एक स्त्री के नाते वह भी ब्राह्मणवादी ढाँचे से अपमानित है, लेकिन फिर भी वह उसके ख़िलाफ़ नहीं बोलती। ज़ाहिर है वह स्त्रियों की व्यापक संवेदना की अपेक्षा पितृसत्ता और ब्राह्मणवाद की सुरक्षा करती है। वह पति को सुधारने के बजाय उसे बचाने का अभियान चलाती है। कहानी हृदय-परिवर्तन की मानसिकता की पोल खोलती है।

लोकतांत्रिक व्यवस्था का पक्षधर होने के नाते दलित साहित्य राज्य या समाज समर्थित किसी भी हिंसा के ख़िलाफ़ है। कहानी में जातीय अपमान और हिंसा से बचने हेतु काशीनाथ का चाक़ू निकालना एक घटना-मात्र है। नायक और काशीनाथ दोनों सामाजिक आधार पर

बेइज़्ज़त होते हैं, मार खाते हैं, लेकिन हिंसा नहीं करते। यद्यपि भारत का क़ानून आत्मरक्षा में हथियार के प्रयोग की इजाज़त देता है। कहानी में तीन ऐसी घटनाएँ आती हैं जब काशीनाथ चाक़ू निकालते हैं, मगर उसका प्रयोग नहीं करते। कहानी संदेश देती है कि यदि तथाकथित उच्च जातियों ने जातिवाद से पीड़ित समाज के प्रति अपने दुर्व्यवहार नहीं बदले तो यह समाज के लिए घातक होगा। कहानीकार मानवाधिकार विरोधी माहौल से रूबरू करवाते हुए इस मानसिक पागलपन का ख़ात्मा हिंसा से नहीं, बातचीत और सामाजिक सद्भाव के दायरे में करने को प्रतिबद्ध हैं। नायक तिवारी के घर भोजन करने के बाद वहीं सो गए, मगर तिवारी ने उसका बैग टटोला और सर्टिफ़िकेट देखकर उबल पड़ा।

> 'मेरा सब कुछ चोरी हो गया था। सर्टिफ़िकेट रामचरण ने पहले ही फाड़कर फेंक दिए थे। मेरी गर्दन में चोट आई थी। चाल तो लड़खड़ा रही थी, लेकिन मेरे भीतर भारी उथल-पुथल भी चल रही थी और नंगा चाक़ू नचाते हुए काशीनाथ का दहाड़ना बराबर जारी था। अब बस्ती पीछे छूट गई थी।
> काशीनाथ ने कहा, 'चलो पुलिस स्टेशन चलते हैं।'
> 'नहीं'
> 'वो लोग तुमको पीट रहे थे और तुमने कुछ नहीं किया?'
> 'उन्होंने मुझे थोड़े ही मारा? वे तो मनु को पीट रहे थे!'

जातिवादी लोग देश विरोधी, संविधान विरोधी और समानता के दुश्मन हैं। ऐसी स्थिति में यह समझ लेना चाहिए कि यह लड़ाई मात्र तर्क से नहीं लड़ी जा सकती, इसके लिए कुछ अधिक चाहिए। काशीनाथ मानवीय गरिमा के विरुद्ध होने वाले आचरण से लड़ने वाले योद्धा हैं जो इस बीमारी से लड़कर इसे हराना चाहते हैं। नायक जातिवादी भीड़ की मार झेलकर भी जातिवादियों के ख़िलाफ़ हिंसक नहीं होना चाहते। वे न तो बड़ी भीड़ बनाकर हिंसा करने के समर्थक हैं और न ही पुलिस के माध्यम से मुक़दमा चलाना चाहते हैं। वे समाज को बदलने के लिए सामाजिक चेतना का समर्थन करते हैं, तभी तो वे कहते हैं कि जो मनोरोगी मुझे मार रहे थे उनका इलाज पुलिस के पास नहीं, समाज के पास है। यह लड़ाई तभी पूरी होगी जब जनता मनुवाद को देश, समाज और कार्य क्षेत्रों से उखाड़ फेंकेगी। मनु को समाज से बाहर करने का तरीक़ा एक ही है कि हम अपने साथी नागरिकों के मानवाधिकारों का सम्मान करना शुरू कर दें।

कहानी जातीय विषमता की परतों को खोलने के लिए जिस ट्रैक पर चलती है इसके खुलते ही हिंसा के स्वर सुनाई देते हैं। सदियों से जारी इन अपराधों के प्रति ब्राह्मण धर्म ज़रा भी संजीदा नहीं दिखता। कहानी यह भी संदेश देती है कि जब जातीय हिंसा से बचना संभव न रहे तो उससे लड़ना ही एकमात्र उपाय है। कहानी का नायक जातिवाद से बचने के लिए

जाति छुपाकर रहता है तो दूसरा सरेआम अपने को बाबा साहब आंबेडकर की विरासत से जोड़ता है और विषमतावादियों को चुनौती देता है। जाति छुपाने वाला मार खाकर शांत हो जाता है तो जाति की सार्वजनिक अभिव्यक्ति करने वाले से सभी जातिवादी डर-डरकर भागते हैं। कहानी संकेत करती है कि मनु ने नायक को जाति छुपाने को मजबूर किया। यदि वह जाति नहीं छुपाता तो मनु विरोधी होता जैसे काशीनाथ सकपाल और ऐसी स्थिति में वह गरिमामय जीवन जीने में सफल होता। आरक्षण के नाम पर नाक-भौं सिकोड़ने वाले धर्म के नाम पर सौ प्रतिशत आरक्षण लिए हुए हैं और इसमें उन्हें कुछ नालायक़ी नहीं लगती। लोकतांत्रिक भारत में भेदभाव की संस्कृति के लिए कोई जगह नहीं होनी चाहिए। राजस्थान हाईकोर्ट के प्रांगण में मनु की प्रतिमा लगी हुई है, महाराष्ट्र की दो आंबेडकरवादी महिलाओं ने मनु संहिता को स्त्री और दलित विरोधी कहते हुए 8 अक्तूबर, 2018 को इस बुत पर कालिख पोती थी।

बंधु माधव : ज़हरीली रोटी

बंधु माधव ने इस कहीनी के ज़रिये भूख, ग़रीबी, सामाजिक अपमान और मानवीय गरिमा रहित जीवन के प्रश्न उठाकर सामाजिक संवेदना का विस्तार किया है। धार्मिक परंपराओं और आस्थाओं के नाम पर व्यक्तियों से बेगारी करवाना और प्रताड़ित करना आर्थिक अपराध ही नहीं, अपितु मौलिक अधिकारों का उल्लंघन होने के कारण राज्य के विरुद्ध अपराध भी है। बाबू पाटिल बूढ़े दलित और उसके नाती को औक़ात में रहने को कहते ही नहीं, करके दिखाते हैं। खलिहान में अनाज निकालने की प्रक्रिया में शामिल करने से पहले पाटिल कामगारों की इंसानियत छीन लेते हैं और बूढ़ा कामगार येताल्या भूख से बचने के लिए उसकी हाँ में हाँ मिलाता जाता है। ग़ैर-बराबरी पर आधारित ब्राह्मणवादी ढाँचा जन्मफल और कर्मफल द्वारा निर्धारित ग़ैर बराबरी को शोषितों के दिलो-दिमाग़ में उतारने का प्रयास करता है, लेकिन प्रतिरोध जारी रहता है। शहर में पढ़ने वाला बाल मज़दूर जब जातीय ढाँचे और देवताओं की पवित्रता पर सवाल उठाता है तो पाटिल आग-बबूला हो उठता है। 'अच्छा पढ़-लिख लिया है, इसलिए इतना अशिष्ट हो गया है। यह समझ लो तुम लोग कि पढ़-लिख लेने से किसी महार या माँग को कोई ब्राह्मण नहीं कहने लगेगा। तुम्हें चोखामेला की कहानी जाननी चाहिए। क्या वह पंढरपुर के बिठोवा मंदिर में कभी घुस आया?' चेतना उन्हें ललकारती है कि 'तुम्हारे और हमारे में कोई भेद नहीं है' तो ज़मींदार उन्हें ईश्वर द्वारा रची व्यवस्था का पालन करने हेतु गुर्राते हैं कि 'चप्पल की पूजा देवता की जगह कभी नहीं हो सकती'।

कहानी बाल शोषण के पक्ष को उजागर करते हुए उद्दंड किसान और उसके सहयोगी द्वारा बच्चे से काम लेने, धमकाने, अनाज दिए बिना खलिहान से चले जाने को दिखाती है –'ओ छोकरे, चल छोड़ मेरा खलिहान। कुछ भी नहीं दूँगा तुझे नालायक़...उठ, जा यहाँ से।' 'नहीं अन्ना, आप हमारी पीठ पर चाहे जितना मार लो, पर पेट पर लात मत मारो।' दादा की आँखों में आँसू छलछला आए थे।...सारा दिन काम करने के बावजूद बापू पाटिल ने हमें एक मुट्ठी

ज्वार तक नहीं दी।’ भूखे व्यक्ति के लिए भूख मुक्ति पहले है, स्वाभिमान नहीं। यही कारण है कि वृद्ध कामगार बैलों के आगे डाली गई सड़ी हुई रोटियों को उठाकर भूख मुक्ति की कोशिश करता है और इसी प्रक्रिया में उसकी मौत होना नागरिक और प्रशासनिक व्यवस्था पर गंभीर आरोप है। शिक्षित बाल मज़दूर और बूढ़े कामगार के बीच जीवन जीने के तौर-तरीक़ों को लेकर बातचीत से मालूम होता है कि वे चेतना रहित जीवन और विविध आयामी शोषण से मुक्ति चाहते हैं। वे सामाजिक ज़बरदस्ती से छुटकारा चाहते हैं। बालक को पुकारते हुए दादाजी कहते हैं, ‘महादेवा, क्या महार और माँग कभी सुखी जीवन नहीं जी पाएँगे? यह कैसी ज़िल्लत भरी ज़िंदगी जी रहे हैं हम! क्या तुम यह समझ रहे हो कि जमींदारों और गाँव के लोगों के ताने सहकर मैं खुश होता हूँ। मैं भी उन लोगों के रवैये से ख़ासा परेशान हूँ और उनके ज़ुल्मों का बदला लेना चाहता हूँ। पर मेरे बेटे, मैं मजबूर हूँ! मुझे ज़िल्लत भरी इस ज़िंदगी का कोई अंत नहीं दीखता।’ कहानी श्रम के मूल्य को रेखांकित करते हुए कहती है कि यदि दिनभर के परिश्रम के बदले अनाज या पैसा मिलता तो बूढ़े कामगार की मौत नहीं होती।

अंबेडकर
और
दलित आंदोलन

आनंद तेलतुमड़े

बेगारी ने बूढ़े श्रमिक की जान ले ली। मरते वक़्त वे महादेव से कह रहे थे, ‘मैं सिर्फ़ इतना ही कहूँगा कि सदियों से हमारी बिरादरी की क़िस्मत से चिपकी इन ज़हरीली रोटियों के भरोसे मत रहना। कुछ ऐसा करो कि यह ज़हरीली रोटी अब किसी महार के मुँह में न पहुँचने पाए। ये ज़हरीली रोटी न जाने और कितनों की जान लेगी...।’ कहानी सदियों की पीड़ा के पीछे ब्राह्मणवादी ढाँचे की उस सैद्धांतिकी को खड़ा पाती है जिसने एक समान अधिकार और हिस्सेदारी का बार-बार विरोध किया। वृद्ध कामगार ब्राह्मणवादी ढाँचे में निर्मित इस ज़िल्लत भरी ज़िंदगी से मुक्ति की माँग करते हुए शोषण एवं गंदगी के ढेर को साफ़ करने की आवाज़ बुलंद करता है। गणतंत्र के बाद भी एक समुदाय क्यों सड़ी हुई रोटियाँ खाकर मर रहा है और दूसरा इनके शोषण की पक्षधरता में ईश्वर और परंपराओं को सम्मानित कर रहा है। इससे संघर्ष करने के लिए महादेवा जैसे शिक्षित हो रहे युवाओं की फ़ौज की ज़रूरत है जो न केवल इस सांस्कृतिक कूड़े के ढेर से समाज को अवगत करवाएँगे, बल्कि आंदोलित होकर बेगार विरोधी पथ का संधान करेंगे। महादेवा, पाटिल के व्यवहार को तर्कों से ख़ारिज करता है। ‘क्या आप हमें अपने पैर की चप्पल समझते हो? क्या हम चप्पलों की तरह हैं? क्या हम आप लोगों की

तरह हाड़-मांस के नहीं बने हैं और हमारे ख़ून का रंग आप सबसे अलग है? ...मैंने फिर चीखकर कहा, 'हममें और तुममें कोई फ़र्क़ नहीं है।' वे आगे बढ़कर बेगारी, शोषण, जातीय अपमान की शिकायत और अपने अधिकारों की पैरवी करते हुए कहते हैं 'हमें अपनी सीमा लाँघनी ही होगी। दूसरा कोई चारा नहीं।' यदि नागरिकों को बेगारी से मुक्ति और सामाजिक समानता आधारित स्वाभिमानी ज़िंदगी चाहिए तो उन्हें इनके ख़िलाफ़ आंदोलित होना होगा। तभी बेगारी के सवाल का हल संभव है और तभी शोषित समाज को आर्थिक मानवाधिकार हासिल हो पाएँगे।

दया पवार : सलीब

दया पवार ने कामगार यूनियन के हित में जीवन लगा देने वाले व्यक्ति और यूनियन के भीतर क़ायम जातीय प्रभुत्व का गहराई से चित्रित किया है। सदा कांबले यूनियन का नेतृत्व पाकर सबके लिए बोनस और अन्य कामगार सुविधाएँ जुटाने के लिए मज़बूती से दो माह तक आंदोलन चलाते हैं, लेकिन इस आंदोलन को सामाजिक पहचान के आधार पर खंडित कर दिया जाता है। मैनेजमेंट द्वारा विभिन्न आरोपों में कांबले को नौकरी से बर्ख़ास्त करते ही मज़दूर काम पर लौट आते हैं। यूनियन अपने नेता की बलि देकर चुप्पी साध लेती है। कांबले और उसका परिवार गंभीर आर्थिक संकट से गुज़रता है, पर ज़ालिम मैनेजमेंट से बहाली की अपील करना उसे अपने ज़मीर के ख़िलाफ़ लगता है और वह अपने संकल्प पर अटल रहता है। बाबू लोगों ने हेडक्वॉर्टर के सिंधी जाति के अधिकारी के निर्देशन में हड़ताल तोड़ने की पहल की और सभी सिंधी बाबू काम पर हाज़िर हो गए। 'सदा निम्न जाति का है, वह मज़दूरों का नेता बन बैठा है, यह चर्चा ज़ोरों पर थी। सदा मज़दूरों को भड़काता है इसलिए उसे नौकरी से हटा दिया गया। मैनेजमेंट ने काँइयापन दिखाते हुए कारख़ाने में चोरी-छिपे दारू की भट्ठी चलाने वालों की सूची में सदा का नाम शामिल कर दिया। वधस्थल पर सलीब लेकर जाने वाले ईसा मसीह के साथ कुछ गुनहगार भी थे। सदा के साथ यही सब हुआ था।' सवाल हड़ताल टूटने का नहीं, बल्कि यह है कि किस आधार पर उसे तुड़वाया गया। कहानी संकेत करती है कि कांबले की सामाजिक हैसियत को छोटी बताकर तथाकथित बड़ी जाति वालों के लिए उसके नेतृत्व में रहना धर्मविरुद्ध था। ब्राह्मण धर्म व्यवस्था संगठन में नहीं, जातीय विखंडन में विश्वास करती है और इसी आधार पर हिंदू अपना जीवन जीते हैं, नेतृत्व करते या नेतृत्व छीनते हैं। कांबले की कार्य निष्ठा पर सवाल उठाकर उसकी जातीय हैसियत को उभारना ऐतिहासिक षड्यंत्र का हिस्सा है, जो दर्शाता है कि यहाँ काम का नहीं, कामगारों की जाति का सम्मान है जो बेहद खेदजनक, लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं का अपमान और संविधान-प्रदत्त मानवीय गरिमा के विरुद्ध है।

'सलीब' का नायक सदा कांबले बेटी को पढ़ाई के लिए बोर्डिंग स्कूल भेजना चाहता था लेकिन उसकी बेटी के गली के किसी मवाली के साथ चले जाने से बर्ख़ास्त मज़दूर नेता

की आर्थिक परेशानी में सामाजिक अपमान भी जुड़ जाता है। उसकी पत्नी बाज़ार में सब्ज़ी बेचकर परिवार चलाती है। हड़ताल और नौकरी से निकाले जाने के बाद वह फ़ैक्ट्री के गेट पर कुछ दिन सामान बेचकर और कामगारों के सामूहिक चंदे से गुज़ारा करता है लेकिन कारख़ाने में अपने प्रवेश रोक पर वह चिल्लाते हुए कहता है, 'मुझे इस्तीफ़ा देना है, मुझे अपने परिश्रम के पैसे चाहिए। मैंने उसके कंधे पर हाथ रखना चाहा, 'सदा शांत हो जा, सब कुछ मिलेगा तुम्हें। मास्टर, हाथ ना लगाओ मुझे, तुम भी उन जैसे ही निकले, ये सभी तो बिक चुके हैं। मुझे अपने पसीने की कमाई चाहिए। क्या ये पैसे मेरे मरने के बाद मिलेंगे? क्यों मुझे तुम फुसला रहे हो, तुम भी मालिक के साथ मिल चुके हो। क्या मैं कुछ सोच नहीं सकता? कोई काम नहीं कर सकता? तुम सब चाहते हो कि मैं पागल हो जाऊँ। वह बड़बड़ाता हुआ गली में दौड़ने लगा। मैं हताश होकर उस दिशा में देख रहा था, जिस तरफ़ वह दौड़ता चला जा रहा था।'

कहानी यूनियनिज़म के कारण दंडित व्यक्ति और उसकी आर्थिक स्थिति को हमारे सामने रखती है। पहले मज़दूरों द्वारा हड़ताल को सर्मथन और बाद में नेता को अकेले छोड़कर काम पर लौटने के पीछे आर्थिक समस्याओं समेत नौकरी जाने के डर के साथ-साथ दलित नेतृत्व का नकार प्रमुख रूप से काम करता है। लेकिन केवल दलित का ही सवाल होता तो उसके साथ कुछ दलित तो आने ही चाहिए थे। असल सवाल नौकरी जाने का डर और भूखे मरने का है। दुनियादारी और पूँजीवादी ताक़तें हक़ माँगने वालों को पागल क़रार देकर हड़ताल रोकने में जातीय पहचान का सहारा लेती हैं। कहानी सवाल उठाती है कि मज़दूरों का नेता वर्ण, धर्म और जातीय श्रेष्ठता के अनुसार क्यों होना चाहिए? उनका नेता वही हो जो उनके हक़ों के लिए लड़े, लेकिन कहानी में धोखेबाज़ों और तिकड़मबाज़ों के सामने मज़दूर हक़ों के लिए लड़ने वालों को गंभीर आर्थिक संकट और बर्ख़ास्तगी का सामना करना पड़ता है। मानवीय शोषण की यह व्यवस्था बंद करनी है तो बच्चों को घरों में दी जाने वाली ट्रेनिंग बंद करनी होगी। दोहरे आचरण चाहे सत्ता के हों या समाज के, इनसे सामाजिक सौहार्द नहीं बन सकता। भारतीय जनता यदि मानवीय गरिमा या मानवधिकारों को जीना चाहती है तो सिवाय इसके उसके पास कोई विकल्प नहीं है कि वे शोषण के विरुद्ध एकजुट हों, लेकिन यहाँ शोषण भी जाति के लिहाज़ से घटता-बढ़ता है और यही वर्किंग ग्रुप्स की एकता की बाधा है। हम देख रहे हैं कि शुद्धता के नाम पर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का बाजा गली-गली में बजाया जा रहा है। पंजाबी कवि पाश कहते हैं –'सबसे ख़तरनाक है सपनों का मर जाना' इसलिए निरंतर अलख जगाकर सपनों को जगाए रखना है। कहानी इलाक़े, भाषा और धर्म की समानता के बावजूद जातिवाद फैला रहे समाज और समूह की कार्यशैली पर सवाल उठाती है। इसका मतलब साफ़ है कि जाति सब से ऊपर है। यह जिस धर्म से निकली है, उसे ही निगल रही है। यह संघर्ष जाति से सम्मान और जाति से अपमान पाने वालों के बीच सदियों से जारी है और यह सामाजिक समानता स्थापित होने तक जारी रहेगा।

अर्जुन डांगले : बुद्ध ही मरा पड़ा है

अर्जुन डांगले ने कहानी के माध्यम से सामाजिक जड़ता और दलित समाज के आपसी भेदभाव पर प्रहार किया है। विधि स्नातक के छात्र अशोक राव अपने क्षेत्र के विधायक मि. पाटिल से मुंबई में मिलकर, दलितों से हो रहे सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक भेदभावों के प्रति रोष व्यक्त करते हुए उन्हें मनुष्य मानने और समान व्यवहार संबंधी आश्वासन चाहते हैं तो विधायक इस प्रश्न में उलझने के बजाय उनसे ही प्रश्न करते हैं कि 'हमारा रहने दो, अशोक राव, आप सभी ने तो क्रांति का ऐलान किया है, लेकिन तुम्हारे बौद्ध लोग मातंगों को अपने कुएँ पर पानी भरने देते हैं? पहले अपने आप को देखो और फिर हमसे डायलॉग करो।' विधायक का आँखें खोलने वाला जवाब सुनकर अशोक राव आपसी भेदभाव के विरुद्ध अभियान चलाने हेतु गाँव आते हैं। वे बौद्ध विहार बनाने की मुहिम में जुटे कार्यकर्ताओं और नेताओं से संवाद करते हैं जो महार-मातंग की एकता के लिए बुद्ध और बुद्धवाद को प्रमुख मानते हैं। उनका मानना है कि पहले बौद्ध बनो फिर हम एक हो सकते हैं, लेकिन अशोक राव बौद्ध बनने से पहले समान व्यवहार और सामाजिक दूरियाँ मिटाने के सवाल उठाते हुए कहते हैं कि क्या बौद्ध मंदिर बनाने से दलितों के आपसी भेद समाप्त हो जाएँगे? जब तक दलितों में आपसी मधुर संबंध नहीं बनेंगे, बुद्धिज़म का विस्तार नहीं होगा। सवाल यह भी है कि वैचारिक समता के लिए आंबेडकरी विचार से ही जुड़ना क्यों ज़रूरी है? अशोक राव बौद्धसभा के सामने दलितों के सामाजिक संबंधों का प्रस्ताव रखते हैं तो चुनाव हार चुके राव साहब इससे सहमत नहीं होते। 'राव साहब बोल रहे थे। अशोक का दम घुट रहा था। उसकी आँखों के आगे बौद्ध मंदिर आया। मंदिर के आस-पास गाँव-गाँव से आई लोगों की भीड़ दिखने लगी। मंदिर में ठीक बौद्ध मूरत के सामने ब्राह्मण के 'अवतार' में राव साहब भी दिखने लगे।'

बुद्ध और बाबा साहब के सत्य ज्ञान पर चलकर अशोक राव दलित समाज में जाति भेद बंद करने और मातंगों को महारों के कुएँ पर पानी भरने की शर्त को मानने के बाद बौद्ध विहार निर्माण के लिए मुंबई से एकत्र किए गए साढ़े तीन हज़ार रुपये देना चाहते हैं। लेकिन राव साहब और तानाजी प्रतिक्रिया देते हुए कहते हैं, 'हम कहाँ नहीं मानते? मुझे एक बात बताओ, तुम बौद्ध धर्म फैलाने जा रहे हो या बिगाड़ने?' अर्जुन डांगले बुद्धिस्ट बनने, उस विचार को सम्मान देने और उसे व्यक्तिगत जीवन में अपनाने की प्रतिक्रिया पर सवाल उठाते हैं। दलित जातियों में आपसी संबंध बनाने के बजाय बौद्ध विहार बनाने को अधिक महत्त्व देने की मानसिकता की मुख़ालफ़त करते हुए कहानी एक ऐसे मोड़ पर आकर खड़ी हो जाती है जब महारवाड़ा अड़ जाता है कि अशोक राव के पिता के अंतिम संस्कार में बौद्ध बाड़ा तभी शामिल होगा जब अशोक उनसे माफ़ी माँगेंगे। परिवार और माँ का दबाव अलग है। अशोक राव बौद्धवाड़े की शर्त पर हतप्रभ हैं। वे कहते हैं – 'क्षमा? कैसी क्षमा? मैंने क्या गुनाह किया है?' 'अरे बाबा माँग न क्षमा! कितनी देर तक रखेंगे अण्णा को? कल रात से किसी ने न कुछ खाया, न पिया।' 'अप्पा, एक बात पूछूँ? उन्होंने हाथ नहीं लगाया और मातंगों ने बाप को

दफ़नाया, तो क्या अण्णा पिशाच बनकर रहेंगे हमारे लिए?' अशोक की माँ सब कुछ सुन रही थी। एकाएक उसने अशोक के पैर पकड़े और दहाड़कर रो-रोकर कहने लगी, 'अशोका, मेरे बेटे माँग ले क्षमा! तेरा बाप जिस अधिकार और सम्मान से जिया है, ठीक वैसे ही उसे विदाई दे।'

दलितों की जातीय दूरियों के सामने वैचारिक प्रतिबद्धता का दम निकलना संकेत करता है कि बाबा साहब आंबेडकर के नाम पर राजनीति करने वाले आपस में अंदर तक बँटे हुए हैं, उनमें व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएँ भरी हुई हैं। कहानी की अंतिम पंक्तियों में नायक के हाव-भाव देखने लायक़ हैं : 'अशोक का माथा सनसना रहा था। अपने ही रक्त और मांस के लोगों से पाई यह अमानवीय चोट अशोक को उखाड़ फेंक रही थी। उसकी साँसें बढ़ने लगीं। उसने सामने देखा। सामने सब क़ौमें थीं। फिर उसने नीचे देखा। बाप मुरदा होकर पड़ा था। उसने फिर नज़र हटाई और ऊपर देखा। उसने देखा कि बाप की तरह सचमुच बुद्ध ही मरा पड़ा है।' यहाँ बुद्ध के मरे पड़े होने का मतलब इनके अनुयायियों की विवेक शून्यता से है। लंबे-लंबे भाषण और राजनीतिक-सांस्कृतिक गतिविधियों के बावजूद दलित जातियों की आपसी फूट पर बार-बार पर्दा डालना, उसे कम करने के प्रयासों को नज़रअंदाज़ करना और ठुकराना उस संपूर्ण बौद्धिकता का अनादर है जिसे बाबा साहब आंबेडकर और अन्य बहुजन महापुरुषों ने निर्मित किया है। जब तक जड़ताओं पर चोट नहीं होगी, दलित जातियों के भीतर भी पारस्परिक सम्मान पर आधारित संबंध नहीं बनेंगे, यथास्थिति के रहते सामाजिक परिवर्तन संभव नहीं। अशोक राव युवाओं के लिए नया रास्ता बनाना चाहते हैं लेकिन जातिशास्त्र बीच में आकर अपना वजूद बचा ले जाता है। दलित नेताओं के स्वार्थी व्यवहार और उनकी स्वयं के प्रमुख बने रहने की मनोवृत्ति का विश्लेषण यह है कि चुनाव जीतने और वोट पाने की तिकड़म से बड़ा मुद्दा दलित जातियों के बीच पसरे आपसी भेदभाव से लड़ना है। बौद्ध विहार बनाकर समाज बदलने का संकल्प पेश करने वाली कहानी सदियों से ग़ुलाम जातियों और समुदायों की आपसी फूट और ब्राह्मणवादी व्यवस्था द्वारा पैदा किए गए छोटे-बड़े के भेद को गहराई और गंभीरता से उठाती है। जाति व्यवस्था अमीबा की तरह खंड-खंड होकर फिर से बढ़ने लगती है। सवाल है कि आख़िर सामाजिक एकता की आवाज़ बुलंद करने वाले अशोक राव को ख़ुद अपने घर में ही क्यों पराजित होना पड़ा? क़ौम का सवाल और बौद्धिकता से समाज बदलने का संकल्प आपस में टकराकर चूर-चूर हो जाते हैं और शोषक ख़ुद जवाब देने के बजाय इन्हें लड़ते-भिड़ते देखकर, इन्हें ही सीख देकर ख़ुशियाँ मनाने लगते हैं। दोष धर्मावलंबियों का नहीं, बल्कि उन ग्रंथों का है जिनसे जाति और जातिवाद की बीमारी निकली है। कहानी दलितों के भीतर और बाहर इनके ख़िलाफ़ ही पल रही मानसिक बीमारी पर चिंतन करते हुए सामाजिक एकता के सूत्र पेश करती है।

शरण कुमार लिंबाले : जाति न पूछो

लेखक ने कहानी में छात्रों के बीच सामाजिक समानता विरोधी मनोवृत्ति से जुड़े प्रश्नों पर

विचार किया है। छात्रों के सामाजिक परिवेश से ही उनकी मानसिकता का निर्माण होता है। जाति एक बंद इकाई है और धर्म इसे बंद ही रखना चाहता है, इसलिए जाति की स्वीकृति के पीछे धार्मिक आस्था और तथाकथित पवित्रता काम करती है। सोलापुर के कॉलेज में महार जाति के छात्र हणम्या और लिंगायत समुदाय के छात्र में मित्रता दोनों को उनके परिवार, समाज, संस्कृति से परिचय करवाती है। हणम्या अपने दोस्त को अपनी बहन की शादी के अवसर पर गाँव लेकर जाते हैं, लेकिन लिंगायत दोस्त को महार दोस्त का घर, उसके माता-पिता, रहन-सहन, बातचीत यानि कुछ भी अपने जैसा नहीं लगता। इस अनजान और अस्पृश्य दुनिया में उसका दम घुटने लगा और वह वापस चला आया। 'यह बात बड़ी शिद्दत से महसूस होने लगती है कि मैं सबसे अलग हूँ। ...उनकी दरिद्रता से मुझे घिन आ जाती। उनके घर का पानी पीते हुए मेरा दम घुटने लगता था। मुँह का कौर गले से नीचे उतरता नहीं था। मेरे मन में इस बात का डर समाया हुआ था कि मैं एक महार के घर में रह रहा हूँ। जी करता था कि कब यहाँ से निकल पड़ूँ। एक ही दिन रहकर मैं लौट आया। हणम्या के माँ-बाप मुझे अपने घर के नौकरों जैसे लगे थे।'

विडंबना है कि यहाँ दोस्ताना और सहयोगी भाव से बड़ी बनकर सामाजिक हैसियत और जीवन शैली बीच में खड़ी है। दूसरा यह कि मूलभूत मानवीय सुविधाओं के पीछे जाति का अर्थशास्त्र भी जुड़ा है। सवाल यह भी है कि मनुष्यों के बीच इतनी घृणा और विभाजन क्या अनायास और उद्देश्य रहित है? हमें इसका जवाब तलाशना है। कहानी बताती है कि जब हणम्या के पिता सोलापुर में उससे मिलने आते हैं और वह उन्हें अपने लिंगायत दोस्त से मिलाने ले जाते हैं तो महार पिता के व्यवहार में दास्य भाव उतर आता है। उनके 'जी मालिक, जी मालिक' कहने, जूते रखने की जगह बैठने, चाय पीने के बाद कप धोकर रखने और हाथ जोड़ने के अंदाज़ से लिंगायत युवा को उनमें अपने घरेलू नौकर लक्ष्या महार की छाया दिखने लगती है। एक महार पिता के मानवाधिकार या मानवीय गरिमा छीनने के पीछे सामाजिक आर्थिक व्यवहारों की जकड़न प्रमुख रूप से दिखाई देती है। जाति व्यवस्था ने दलितों को इतना दंडित और अपमानित किया है कि वे जाति व्यवस्था पर सवाल उठाने के बजाय उसके द्वारा निर्धारित काम ख़ुद-ब-ख़ुद करने लगते हैं। भारतीय समाज में सामाजिक लोकतंत्र की ज़बरदस्त कमी है और इसके बिना राजनीतिक लोकतंत्र की सफलता हमेशा संदिग्ध बनी रहेगी। जब तक सामाजिक व्यवहारों में बराबरी नहीं आएगी तब तक गणतंत्र भारत के भीतर एक ग़ुलाम भारत बसा रहेगा।

जाति व्यवस्था की रूढ़ धारणा और उसके प्रति जाने-अनजाने पाली गई श्रद्धा और उससे निर्मित अंहकार के कारण ओबीसी युवा अपने महार दोस्त की पहचान को हीन मानकर उसे अपने परिवार में गड़रिया बनाकर पेश करता है। विवाह के अवसर पर महार को गड़रिया बताकर वह अपने परिवार पर आने वाले सामाजिक दबाव को भी कम करने का प्रयास करता है, क्योंकि महार और गड़रिये की सामाजिक हैसियत अछूत और सछूत की है। कहानी संकेत

करती है कि ग्रामीण जीवन में दलित दोस्त की पहचान खुलने पर संभावित संकट से बचने हेतु वे निर्धारित दिनों से पहले ही सोलापुर लौट आते हैं। एक दलित द्वारा अपने लिंगायत सहपाठी के घर में रहते हुए उसमें समाया डर और लिगांयत दोस्त द्वारा अपने दलित दोस्त के यहाँ अजनबी जैसा महसूस करने और बेचैन होने के पीछे उनकी जातीय भिन्नता से जुड़े रूढ़ लोक व्यवहार हैं। लिंगायत दोस्त के पिता जब बेटे के पास शहर आते हैं और हणम्या से मिलने उसके कमरे पर पहुँचते हैं तो लिंगायत मित्र आगे जाकर वहाँ लगी आंबेडकर एवं अभिनेत्रियों की तस्वीरें छिपा देते हैं। दलित दोस्त के भयभीत होने की वजह यह भी है कि कहीं आने-जाने वाला दोस्त 'जय भीम' न कह दे और मेरी पोल-पट्टी न खुल जाए। जातीय हीनता का आतंक इतना है कि इससे पूर्व बस अड्डे पर अपने दोस्त के पिता का परिचय पिता के परिचित के रूप में करवाते हैं। मतलब साफ़ है कि जातीय जकड़नों ने मनुष्य से मनुष्य की पहचान और विवेक शक्ति छीनकर उसे लोक रूढ़ियों का ग़ुलाम, संवेदनहीन और भयभीत बना दिया है। उसका थॉट प्रॉसेस लक़वाग्रस्त है। मानवीय शोषण का यह संपूर्ण तंत्र आधुनिकता के ख़िलाफ़ होने के बावजूद आख़िर समाप्ति की ओर क्यों नहीं जा रहा है? कहानी में जाति व्यवस्था का वीभत्स रूप उस समय सामने आता है जब मौत के कगार पर खड़ी लिंगायत महिला यह कहते हुए हिंदू देवताओं से माफ़ी माँगती है कि मैंने एक अछूत को अपने घर में रखकर पाप किया है और इस पाप की सज़ा इस बीमारी के रूप में भुगत रही हूँ। बीमार महिला पहले जब हणम्या को पुजारी के रूप में याद करती थी तो उसे अच्छा लगता था, लेकिन उसकी सामाजिक पहचान खुलते ही महिला की हालत बिगड़ गई और अत्यधिक ज़रूरत के बावजूद उसने हणम्या का ख़ून लेने से मना कर दिया। 'दूर हो जा, छूना नहीं।' मरीज को ख़ून और दवा की ज़रूरत थी, लेकिन एक अछूत का ख़ून लेने और उसकी सूरत देखने से भी मना करने के पीछे उसका नहीं, इंसानी घृणा का हाथ है। वह बेटे से कहती है –'तू उस महार के बच्चे को घर ले आया, देव धर्म भ्रष्ट कर दिया। इसी पाप की पीड़ा मैं भोग रही हूँ। अब इससे मुझे मुक्ति नहीं। मैं मर गई तो भी कोई बात नहीं, लेकिन मेरे शरीर में महार का ख़ून नहीं जाएगा। तेरे बाप मुझे गंगा नहा ले आए और तू मेरे शरीर में महार का ख़ून भर देना चाहता है? तू पापी है।'

जाति सभी तरह के इंसानी संबंधों और सरोकारों को छोड़कर ख़ून में मिल गई है। कहानी बताती है कि महार और लिंगायत दो जातीय समूह नहीं, दो युग हैं। इनमें मेल न हो इसके
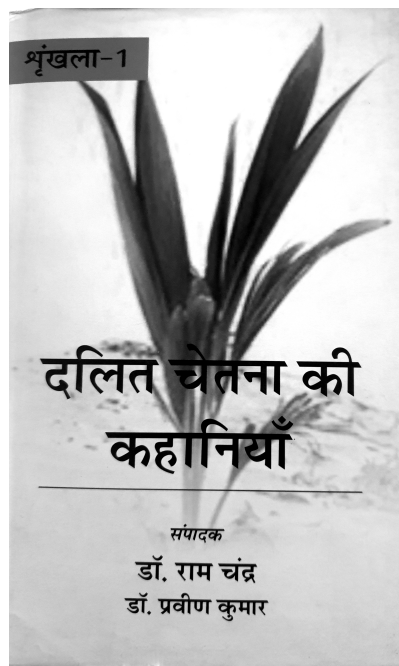
लिए धर्म ने पुख़्ता व्यवस्था कर दी है। कहाँ गंगा का प्रदूषित पानी और कहाँ व्यक्ति का जीवनदायी ख़ून! शताब्दियों से बुद्धि को लक़वा मारा हुआ है, इसलिए लक़वाग्रस्त अंग जब तक स्वस्थ नहीं होगा, सोच-विचार स्वस्थ नहीं हो सकते जिसके भुक्तभोगी हिंदू भी हैं और दलित भी। कहानी कहती है कि जातीय पहचान खुलने और दोस्त के पिता से डाँट खाने के बाद वह भयभीत था, प्रतिरोध कहीं नहीं था। सवाल उठता है कि जातीय पहचान से पैदा होने वाली घृणा को झेल कर आख़िर हणम्या शांत क्यों रहा? 'जाति न पूछो' एक ऐसी कहानी है जो जाति के सवाल को हिंदू जाति के नज़रिये से उभारती है। जाति की ग़लतफ़हमी उन्हें कष्ट नहीं देती, वहीं उसका खुलना या टूटना उन्हें धर्मभीरु, पापी बना देता है। उनका तन-मन अशुद्ध होने लगता है और पाखंडी समाज को महार का ख़ून गंदा और नदी का गंदा पानी स्वच्छ और मोक्षदायी लगता है। कहानी जाति के तथाकथित बड़प्पन के खोल को तोड़कर उसमें बसी मूर्खता को अभिव्यक्त करती है। आंबेडकर के अनुसार 'हिंदुओं का अछूतपन एक अनोखी घटना है। संसार के किसी दूसरे हिस्से में मानवता ने आज तक कभी इसका अनुभव नहीं किया। किसी दूसरे समाज में इस जैसी कोई चीज़ नहीं है। न आरंभिक काल में, न प्राचीन काल में और न ही वर्तमान काल में।'

लेखक ने दोनों तरफ़ से उनके परिवारों के आचरण की दो-दो घटनाओं को रेखांकित करते हुए उनकी सोच को चित्रित किया है। महार परिवार में जाकर लिंगायत भू-मालिक परिवार के युवा का मनोविज्ञान अपने आप को प्रताड़ित करने जैसा है। इसी तरह लिंगायत परिवार में जाकर एक महार युवा के स्वभाव में दास्य भाव का आना भी जातीय लोक व्यवहार को अभिव्यक्त करता है। दोनों के बीच मित्रता है लेकिन जातीय रूढ़ियाँ उनको असहज बनाए रखती हैं। दोनों के पिता एक-दूसरे युवा से मिलने उनके पास जाते हैं लेकिन वहाँ भी दोनों के स्वभाव में जाति का अंतर बीच में रोड़ा बनकर खड़ा रहता है। ये दूरियाँ बनाने वाले कौन हैं? और इन्हें मिटाएगा कौन? इतना तय है कि इन दूरियों को मिटाए बिना समाज निर्माण संभव नहीं है। सामाजिक-आर्थिक इकाई होने के साथ-साथ जाति व्यक्ति के सम्मान और अपमान की सूचक भी है। यह सामाजिक अलगाव और शोषण का पोषण करने वाली और सामाजिक लोकतंत्र से दुश्मनी रखने वाली संस्था है। अनेक साधन संपन्न जातियाँ संख्या बल में कम होने के बावजूद इसी विचार के आधार पर अपना वर्चस्व बनाए हुए हैं। जाति व्यवस्था समाज को खंड-खंड करके मौक़ापरस्त होकर बार-बार रंग बदलती है लेकिन अपना मौलिक चरित्र नहीं छोड़ती।

मराठी दलित कहानियाँ मानवाधिकार संबंधी जिन प्रश्नों को चित्रित करती हैं वे जीवन के ऐसे दग्ध अनुभव हैं जिसे सामाजिक-आर्थिक शोषण, बेगारी, सरकारी कार्यालयों, फ़ैक्ट्रियों और शिक्षण संस्थाओं के विषमतामूलक व्यवहारों में देखा जा सकता है। यह भी सच है कि दलित जातियों में ब्राह्मणवादी घुसपैठ बढ़ी है जिससे इनके बीच वैचारिक असहजता भी देखी जा सकती है। आप जब तक हिंदू फ़ोल्ड में रहेंगे तब तक जाति मानने को बाध्य हैं, इसका

विकल्प बुद्धिज़म भी हो सकता है। मनुष्य बनकर जीने और दूसरे को मनुष्य समझने की प्रेरणा देने वाली कहानियाँ समाज में वैचारिक और आंदोलनधर्मी हलचल पैदा करती हैं। चूँकि जाति मुक्ति व सामाजिक दासता विरोधी संघर्ष दलित साहित्य की रीढ़ है इसलिए इसमें उठाए गए शिक्षा, रोज़गार, राजनीति, आरक्षण, ज़मीनों और संसाधनों में हिस्सेदारी और मनुष्यता के प्रश्न सीधे रोज़मर्रा के जीवन में क़ायम विषमता को चुनौती देकर मानवाधिकारों के साथ खड़े हैं। आख़िरकार सवाल यह भी है कि जिस समाज व्यवस्था की दुनिया से मनुष्यता ग़ायब हो, ग़ैर-बराबरी ही श्रेष्ठता का आधार हो और जिसकी अर्थव्यवस्था पर जातीय हिंदुओं का क़ब्ज़ा हो और विशाल समुदाय सामाजिक-आर्थिक दासता का शिकार हो या बेगारी करने को मजबूर हो, वहाँ मनुष्य मात्र को हक़ कैसे मिलेंगे? ऐसे देश और दौर में सामाजिक लोकतंत्र व मानवाधिकारों के सवाल उठाना बेहद महत्त्वपूर्ण है।

हिंदी दलित कहानियाँ

हिंदी दलित कहानियों ने हमारे दैनिक जीवन का अहम हिस्सा बन चुके जातीय ढाँचे को गहराई से पहचाना और अभिव्यक्त किया है। यह ढाँचा लोक जीवन में दलित व्यक्ति की क़ाबिलियत को कम करके आँकता है। इस जनविरोधी, लोकतंत्र विरोधी, लोक कल्याण व सामाजिक न्याय विरोधी विचार ने भारतीय समाज को सड़ा दिया है। इसलिए इस ढाँचे में जीने वालों को इसकी सड़न आना ही बंद हो गई है और वे बदबू को ही ख़ुशबू मान चुके हैं। इन्हें यह लगता ही नहीं कि वे किसी बदबू में जी रहे हैं। यदि कोई इन्हें ख़ुशबू देने का प्रयास करे तो उसकी मुख़ालफ़त ही नहीं बल्कि उसका जीवन तक ले लेते हैं। आलोच्य कहानियों में ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'सलाम', मोहनदास नैमिशराय की 'अपना गाँव' जयप्रकाश कर्दम की 'नो बार', सुशीला टाकभौरे की 'सिलिया' और दयानंद बटोही की 'सुरंग' कहानियों को लिया गया है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि : सलाम

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने कहानी में बरात के जातीय चिरित्र संबंधी ग़लतफ़हमी से मिले अपमान और हिंसा को अभिव्यक्त किया है। नगरीय समाज के जातीय ढाँचे में गाँव जैसी कड़ाई देखने में नहीं आती। यहाँ सामुदायिक पहचान के अलावा अंतरजातीय मित्रता और लेन-देन का चलन भी है। जिसके चलते कमल अपने भंगी दोस्त हरीश की बरात में शहर से गाँव आया है। उसके स्वभाव और बातचीत में नगरीय जीवन का खुलापन दिखाई देता है लेकिन गाँव के बंद समाज में उसका मज़ाक़ ही नहीं बनता, बल्कि उसे चाय की दुकान से धक्के देकर भगाना इस ढाँचे की क्रूरता को दिखाता है। उसके लिए जाति की क़ीमत है, व्यक्ति की नहीं। वह यह मानने को तैयार ही नहीं कि चूहड़ों की बरात में ब्राह्मण भी आ सकता है। इसलिए कमल के बार-बार चाय की माँग करने और उपाध्याय बताने पर समझा जाता है कि

यह जाति छुपा रहा है। जातीय पवित्रता का उसका दैनिक व्यवहार मानसिक ग्रंथि बन गया है। गाँव के बस अड्डे के गंदगी भरे माहौल में चाय की दुकान चलाने वाला उसका परिचय देहरादून के बराती के रूप में पाकर तत्काल समझ जाता है कि बरात तो चूहड़ों के आई थी तो यह भी चूहड़ा ही है। उसकी सामाजिकता ने उसे यही सिखाया है कि बरात में सभी एक ही जाति के होते हैं। वह उसे चाय देने से मना कर देता है तो कमल उपाध्याय को जातीय ढाँचे की क्रूरता का स्पष्ट एहसास होता है। 'वह बरात तो चूहड़ों के घर आई है।' चायवाले की जिज्ञासा गोली में बदल चुकी थी। 'तो क्या हुआ?' कमल ने सवाल किया। चायवाला एकदम चुप हो गया। उसकी चुप्पी ने कमल को संशय में डाल दिया था। चायवाले के हावभाव बदल गए थे।'

आख़िर जाति को लेकर चायवाला एक नागरिक के मानवाधिकारों का अपमान करने पर आमादा क्यों है? सार्वजनिक रूप से छुआछूत को प्रचारित करके संविधान के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन किस अधिकार के रूप में कर रहा है? मानवीय गरिमा पर प्रहार होते देखकर साथ खड़े लोग उसे ऐसा करने से रोकने के बजाय उसकी हाँ में हाँ मिलाकर हिंदू होने का अर्थ समझाने लगते हैं। हिंदू समाज के अलावा यह कहाँ संभव है कि एक चायवाला चाय पिलाने के बजाय ग्राहक से ही अशिष्टता भरे सवाल करे। कमल की नम्रता के सामने चायवाला अकड़कर कहता है – 'यो पैसे सहर में जाके दिखाणा। दो पैसे हो गए जेब में तो सारी दुनिया को सिर पे ठाए घूमो...ये सहर नहीं गाँव है...यहाँ चूहड़े चमारों को मेरी दुकान में तो चाय ना मिलती...कहीं और जाके पियो।' फड़फड़ाती नसों और जलती आँखों से उपाध्याय ने दुकानदार को घूरा और पूछा कि आख़िर 'तुम्हारी क्या जात है?' वह यह माने हुआ था कि ब्राह्मण से बड़ी जात कोई नहीं है। लेकिन चायवाले ओबीसी ने उसे भभकते हुए कहा – 'इब चूहड़े-चमार भी जात पूछणे लगे...कलजुग आ गया है कलजुग।' प्रतिवाद में उसने अपनी जातीय हैसियत यानि ब्राह्मण होना बताया तो चायवाला उसका मज़ाक़ बनाते हुए कहता है,'चूहड़ों की बरात में बामन?' चायवाला कर्कशता के साथ हँसा। 'सहर में चूतिया बणाना...मैं तो आदमी कू देखते ही पिछाण (पहचान) लूँ... कि किस जात का है?' चायवाले ने शेख़ी बघारी। ...रामपाल को देखते ही चायवाला और बिफर पड़ा, 'चूहड़ा है। ख़ुद कू बामन बतारा है। जुम्मन चूहड़े का बराती है। इब तुम लोग ही फ़ैसला करो। जो ये बामन है तो चूहड़ों की बरात में क्या मूत पीणे आया है। जात छिपा के चाय माँग रा है। मैन्ने तो साफ़ कह दी। बुद्धू की दुकान पे तो मिलेगी ना चाय चूहड़े-चमारों कू, कहीं और ढूँढ़ले जाके।'

कमल द्वारा सभी के लिए भाई शब्द का प्रयोग करने पर रामपाल रांघड़ ने उसका अपमान करते हुए कहा-'ओ सहरी जनखे हम तेरे भाई हैं? – साले जबान सिभाल के बोल ...में डंडा डाल के उलट दूँगा। जाके जुम्मन चूहड़े से रिश्ता बणा। इतनी ज़ोरदार लौंडिया लेके जा रे हैं सहर वाले, जुम्मन के तो सींग लिकड़ आए हैं। अरे, लौंडिया को किसी गाँव में ब्याह देता तो म्हारे जैसों का भी कुछ भला हो जाता।' एक तीखी हँसी का फ़व्वारा फूटा। कमल अपमानित

होकर काँपने लगा। आसपास खड़े लोग उसे हिंसक शिकारी लगे। उसने साहस बटोरकर गाँव के अतिथि सत्कार व अपने गाँव की लड़की को अपमानित करने पर ऐतराज़ जताया तो पिछड़ी मानसिकता का रामपाल उसे दबाने, डराने और ज़िंदा वापस ना जा पाने की धमकी देकर धकियाते हुए छप्परनुमा दुकान से बाहर कर देता है। 'सड़क से उतरकर वह रेतीले रास्ते पर आ गया था। उसकी रग-रग में अंगारे दहक रहे थे। लड़कों का झुंड उसके पीछे-पीछे लग गया था। वे कमल को चिढ़ाने का प्रयास करने लगे। 'चूहड़ा-चूहड़ा...चूहड़ा...' वे ज़ोर ज़ोर से चिल्ला रहे थे। प्रत्येक शब्द नश्तर की तरह उसके जिस्म को चीरकर लहूलुहान कर रहा था।'

जातीय वर्चस्व के चिर-परिचित अंदाज़ में गाँव का प्रभु समुदाय दलित महिलाओं के शारीरिक शोषण के क़िस्से सुना-सुनाकर गर्वित हो रहा है। दलितों और लड़कियों की शिक्षा के प्रति रामपाल के पिता बल्लू रांघड़ के मन में बसी घृणा की सार्वजनिक अभिव्यक्ति लेखक उस वक़्त करते हैं जब हरीश सलाम के लिए जाने से मना कर देते हैं। दलितों का भू-मालिक परिवारों के पास सलाम के लिए न जाने का मतलब गाँव के रीति-रिवाजों का अपमान, जातीय वर्चस्व को चुनौती और सामाजिक बराबरी का दावा माना जा रहा था। सलाम से मुक्ति नई रोशनी की प्रतीक है। हरीश की दृढ़ता ने लड़की के पिता को सामाजिक दबाव में ज़रूर डाला लेकिन सामाजिक ग़ुलामी से भी छुटकारा देने का रास्ता दिखाया। 'जुम्मन ने सिर पर लिपटा कपड़ा उतारकर बल्लू रांघड़ के पाँव में धर दिया – 'चौधरी जी, जो सज़ा दोगे भुगत लूँगा। बेटी कू बिदा हो जाण दो। जमाई पढ़ा-लिखा लड़का है, गाँव-देहात की रीत ना जाणे है।' सलाम को बरक़रार रखने के पीछे ऐसा वर्चस्व है जिसे दलितों का स्वाभिमान से जीना मंज़ूर नहीं। बल्लू रांघड़ कहता है-'तभी तो कहूँ-जातकों (बच्चों) कू स्कूल ना भेज्जा करो। स्कूल जाके कोण-सा इन्हें बालिस्टर बणना है। ऊपर से इनके दिमाग़ चढ़ जांगें यो न घर के रहेंगे न घाट के। गाँव की नाक तो तुमने पहले ही कटवा दी जो लौंडिया कू दसवीं पास करवा दी। क्या ज़रूरत थी लड़की कू पढ़ाने की, गाँव की हवा बिगाड़ रहा है तू। इब तेरा जंवाई 'सलाम' पे जाणे से मना कर रहा है... उसे समझा दे...'सलाम' के लिए जल्दी आवें... बल्लू ने फ़ैसला सुनाया। ...इन सहर वालों कू कह देणा-कव्वा कबी बी हंस ना बण सकै है।' कहानी दलितों की दो पीढ़ियों की सोच और संघर्ष की तरफ़ इशारा करती हुई कहती है कि राजकीय रोज़गारों की बदौलत इनमें जहाँ आत्मसम्मान बढ़ा है वहीं सामाजिक ग़ुलामी की परंपराओं से मुक्त होने की राह भी बनी है।

कहानी जहाँ जातीय ढाँचे में गहराई से मौजूद शोषण को उभारकर यह बता पाने में सफल रही है कि जाति ही वह बीमारी है जिसने हिंदू संतानों को दलितों के प्रति जाहिली की हद तक पहुँचा दिया है। उनके सामने शिक्षा, क़ाबिलियत और इंसानियत का समूचा तंत्र बौना हो जाता है। जातिशास्त्र ने दिमाग़ पर क़ाबिज़ होकर उसे विवेकहीन बना दिया था और ये इसी से नियंत्रित होकर 'जाति पर गर्व करो...गर्व करो' चिल्लाने के साथ-साथ हिंसक बने फिरते हैं।

'सलाम' संदेश देती है कि शोषक जाति का व्यक्ति जब इस ढाँचे द्वारा निर्मित ग़ैर-बराबरी में फँसता है तो वह उसके प्रति मुखर होता है। कमल उपाध्याय द्वारा चूहड़ा जाति का न होने संबंधी स्पष्टीकरण देने के बावजूद उसे चाय नहीं मिलती तो यह स्पष्ट संकेत है कि जनता की सामान्य समझ और परंपरा से निर्मित शोषण से कोई बच नहीं सकता। हिंदुओं में जाति के अंदर ही विवाह संस्कार होते हैं, अन्य जातियों के व्यक्ति इसमें शामिल नहीं होते और इस रूढ़ि का उल्लंघन करने वालों की हालत कमल उपाध्याय जैसी होती है। काउ बेल्ट में इसके रौद्र रूप को देखा जा सकता है, जहाँ लड़कियों द्वारा अपने से तथाकथित निम्न जातीय परिवार में विवाह या प्रेम विवाह करने पर परिवार उनकी हत्या तक कर देते हैं। इसके सामने बाज़ार की संपूर्ण सैद्धांतिकी फ़ेल है। यदि व्यक्ति इन विषमतामूलक व्यवहारों से निर्मित सांस्कृतिक संरचना को महत्त्व या सम्मान देगा तो सामाजिक बराबरी कैसे आएगी? संविधान के अनुच्छेद 13 में नागरिकों के मूल अधिकारों के विरुद्ध प्रचलित परंपराओं को समाप्त घोषित किया गया है, लेकिन विडंबना है कि लोकजीवन में यही प्रतिबंधित आचरण मान-सम्मान पा रहे हैं।

तथाकथित जातीय श्रेष्ठता से सम्मानित होने वाला व्यक्ति जब तथाकथित जातीय निम्नता से अपमानित होने लगे तो तब 'सलाम' का कथानक बनता है। एक ट्रिक पर बुनी गई यह कहानी जाति के नाम पर सम्मानित समुदायों को एहसास करवाती है कि ब्राह्मणवाद के ज़ालिम ढाँचे में मनुष्य के लिए तो कोई सम्मान है नहीं, लेकिन कुछ प्रभु जातियों को यह ज़रूर हासिल है। यदि इन्हें भी अन्य शोषित जातियों की तरह अपमान से गुज़रना पड़े तो शायद ये जातीय ढाँचे के ख़िलाफ़ अभियान चलाने को मजबूर होंगे। कहानी यह भी संदेश देती है कि जाति की प्रशंसा करने वाले व्यक्ति यदि अपनी पहचान छुपाकर ऐसी परिस्थितियों का सामना करें तो भी उन्हें ऐसे शोषण का अनुभव होगा जिसके बारे में वे आज तक अनभिज्ञ हैं। यहाँ तक कि इसे कोई समस्या तक मानने को तैयार नहीं है। यह सामाजिक यातना समाज के एक बड़े हिस्से को सदियों से क्यों भुगतनी पड़ रही है? कहानी समाज में जाति छुपाने की प्रवृत्ति के लोकपक्ष को उभारकर सामने लाती है। दलितों की जातीय पहचान खुलने से अपमान, हिंसा बहुत सामान्य यानि रोज़मर्रा की बात है, बहुत बार हत्याएँ तक हो जाती हैं। जाति न छुपाने वाला व्यक्ति जब इस बीमारी की चपेट में आता है तो उसे यह समस्या बड़ी लगने लगती है। चूहड़ा जाति को मिलने वाले सामाजिक अपमान और जातिवादी हिंसा को एक बार झेलकर कमल की साँसें फूल गईं, मूड उखड़ गया और चेहरा उतर गया। उसे पंद्रह वर्ष पहले की घटना याद आने लगी जब उसकी धर्मात्मा माँ ने सहपाठी को कंजड़, संस्कारहीन और हरामी जैसी गालियाँ देकर घर से भगाकर, घर को गंगाजल छिड़ककर पवित्र किया था। लेकिन कमल की ज़िद से हारकर माँ ने हरीश के खाने-पीने के कुछ बर्तन अलग रख दिए थे और कमल जानते हुए भी कुछ नहीं कर पाया था। हरीश मित्रता के नाते इस जातीय दुर्भावना को भूलकर कमल के घर आता-जाता रहा। ऐसी मित्रता पर बुज़ुर्ग सुगना ने चेतावनी के लहजे में कहा था – 'बेट्टे, बामन से दोस्ती रास नहीं आएगी।' कमल से 'कौन बिरादर हो?' पूछने वाले बुज़ुर्ग का जवाब कमल ने दे दिया था लेकिन हरीश को इसलिए बुरा लगा कि

जाति व्यवस्था से पीड़ित व्यक्ति भी जाति पूछने में रुचि क्यों ले रहा है? आख़िर सवाल यह भी है कि जाति ही सामाजिकता की एकमात्र पहचान क्यों है? वह जातीय जानकारी लेकर उससे स्वयं को जोड़कर कुछ अलग महसूस क्यों करता है?

कहानी बताती है कि बरात को स्कूल में ठहराने की व्यवस्था के बाबजूद रोशनीदार साफ़ कमरे न मिलना और ऐन वक़्त पर हेडमास्टर का रिश्तेदारी में जाना, हैंडपंप का वाल्व व हत्था चोरी होना और बरात को लैंपपोस्ट की हल्की पीली रोशनी में ही रात काटने की मजबूरी के पीछे बरात का जातीय चरित्र ही है। यदि यही बरात भूमिपति जातियों के यहाँ आई होती तो स्कूल में सब कुछ टनाटन होता। यह जातीय दुर्भावना थी जिसके कारण स्कूल के राजकीय और सार्वजनिक संपत्ति होने के बावजूद उसके सामूहिक प्रयोग पर रोक बरक़रार थी। आपको याद होगा बाबा साहेब आंबेडकर ने सार्वजनिक संपत्ति के सामूहिक उपयोग हेतु 20 मार्च 1927 को महाड़ आंदोलन किया था और पानी पीने से रोके जाने के ख़िलाफ़ ज़िला न्यायालय ने सत्याग्रहियों का पक्ष सही माना था। ऐसा क्या है कि जातीय ढाँचा बदलने का नाम नहीं ले रहा है। कुछ-कुछ बदलता भी है तो अपने सम्मान या आर्थिक लाभ देखकर। यह सामान्य चलन क्यों नहीं हो सकता कि व्यक्ति सभी के बीच खुलकर रहे। जाति धर्म निर्मित है और उसे एक ख़ास तरह की पवित्रता से बाँधकर समाज में छोड़ दिया गया है। जाति के प्रति आस्था धर्म निर्देशित है तो निश्चित है धर्मावलंबी इसे पवित्र मानते हैं, बीमारी यही है। इसलिए जातीय आचरण के लिए हिंदू नहीं, उनका धर्म दोषी है। जब तक जाति की पवित्रता संबंधी मान्यता समाप्त नहीं होगी, जाति नहीं टूटेगी। कहानी में कमल की माँ धार्मिक प्रवृत्ति की है मगर बेटे के सहपाठी हरीश को अलग बर्तनों में खाने को देती है। यहाँ वह उसी धर्म का आदेश मान रही है जिसमें अलगाव और असमानता का हवाला दिया गया है। स्वयं कमल जातिवादी हिंसा पर चर्चा के दौरान इसे दलितों की हीन-भावना की उपज और संकीर्णता मानकर उपदेश देने लगता था, लेकिन जब वह स्वयं जातिवाद का सामना करने को मजबूर हुआ तो उसकी साँसें फूलने लगीं। अच्छा होता यदि कमल उपाध्याय जातीय सत्ता और जातिवाद के ख़िलाफ़ मुखरता से बोलता।

'सलाम' का एक पक्ष यह भी है कि इसमें एक दलित बालक मुसलमान रसोइए का बनाया भोजन खाने से साफ़ इंकार कर देता है। बालक की सोच में हिंदू और मुसलमान का बोध कहाँ से आ गया, यह चिंता का विषय है जबकि दलित साहित्य बहुजन हिताय और मनुष्यता की बात करता है और सांप्रदायिकता के ख़िलाफ़ है। दलित जातियों के बीच बड़े
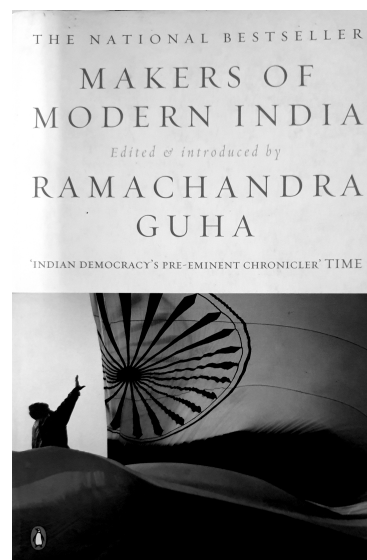
स्तर पर हिंदू जाति की मानसिकता प्रवेश कर चुकी है और ये अपने को हिंदू मानकर हिंदुत्व के औज़ार बनते हैं जबकि इनकी जड़ें हिंदू वर्चस्व के ख़िलाफ़ हैं। जिसने इन्हें अछूत बनाया अब उसको भुलाकर बड़ी चालाकी से इन्हें हिंदू बनाकर, गर्व करना सिखाकर इन्हें मुसलमानों के ख़िलाफ़ मैदान में उतार रहे हैं। विषमतावादियों के लिए दलित और मुसलमान दोनों ही दुश्मन हैं इसलिए हिंदू के नाम पर दलित, ओबीसी को मरने-कटने के लिए आगे किया जाता है और हिंदू नाम पर मलाई खाने व सत्ता सुख भोगने के लिए ग़ैर-बहुजन आगे रहते हैं।

मोहनदास नैमिशराय : अपना गाँव

अपना गाँव कहानी मानवाधिकार और इससे जुड़े सामाजिक प्रश्नों को उद्घाटित करने वाली एक लंबी कहानी है। एक हज़ार परिवारों वाले लहना गाँव के सामाजिक दायरे में मौजूद परंपराओं व रूढ़ियों पर जाति भेद की अमिट छाप होने के पुख़्ता सबूत बार-बार उभरते हैं। यह गाँव भी देश के अन्य गाँवों की तरह भूमि मालिक और भूमिहीन दो प्रमुख हिस्सों में बँटा है। भू-मालिकों के अगुवा ठाकुर हैं तो इनके साथ भू-मालिक अन्य जातियाँ खड़ी हैं, जो मौक़ा पाकर शोषितों से दुर्व्यवहार करते हैं। दूसरी तरफ़ भूमिहीनों के अगुवा दलित हैं और इनके साथ अनेक भूमिहीन जातियाँ खड़ी हैं या संवेदना व्यक्त करती हैं। एक हिस्से में ज़मीनों का मालिकाना, रहने, खाने-पीने, पहनने, साज-सज्जा और आभूषणों और क़ीमती बर्तनों की सुविधाएँ थीं तो दूसरे में इनका घोर अभाव। दोनों की श्मशान भूमि भी अलग-अलग थी। 'अपनी-अपनी जाति को सीने से चिपकाए वे मिट्टी में मिल जाते थे।' दोनों के बीच मनुष्यता या मानवाधिकारों के सवाल पर संघर्ष है और इसके ऐतिहासिक कारण हैं जो गाँव में दोहराए जाते हैं। जिन गाँवों, जातियों या वर्गों में यह सामाजिक-आर्थिक चेतना पहले आ गई, वहाँ ये संघर्ष पहले शुरू हो गए, बाक़ी में बाद में, लेकिन इस संघर्ष की पूर्णता नीचे तक जाने में ही है। 'अपना गाँव' इसी कहानी को कहता है।

कहानी युवा दलित महिला कबूतरी की अस्मिता को नोचने से पैदा होने वाले आर्तनाद से प्रारंभ होती है। तपती दुपहरी में ठाकुर के मँझले बेटे की निगरानी में उसके चार लठैतों के आगे-आगे नग्नावस्था में घुमाई जा रही कबूतरी को देखकर अस्सी साल के दादा ससुर हरिया की 'बूढ़ी हड्डियाँ सन्न-सी हो गई थीं।' वे गालियाँ देकर फ़ायर करते हुए कबूतरी की तरह अन्य औरतों को नंगा घुमाने, दिमाग़ ठिकाने लगाने और औक़ात में रहने की धमकियाँ दे रहे थे। इसे देखकर आँखें नीची करके सभी तमाशबीन हो गए थे या कहें तमाशबीन होना उनकी विवशता थी। दसवीं पास संपत, ठाकुर से पाँच सौ रुपए ऋण लेकर नौकरी की तलाश में शहर गया तो बीस दिन बाद ही ठाकुर के बेटे ने दूषित मानसिकता के चलते ऋण चुकाने हेतु कबूतरी को घर और खेत में काम के लिए बुलाया, लेकिन उसकी मनाही पर कबूतरी पर जो बीता वह भयावह था। उसके घर लौटने पर परिवार के लोगों में उससे आँख मिलाने की ज़रा भी हिम्मत नहीं थी। सास कहती है – 'बऊ तुझे क्या हो गया है। बोल न कुछ। हमें गालियाँ दे, जूते मार,

म्हारी आँखें फोड़ दे। हम सबने तुझे नंगे होते देखा।' गहरी वेदना की रात गुज़री, सुबह बस्ती ने परिवार के साथ संवेदना जताई। धुलिया के मन में ठाकुरों के ज़ुल्म और कारिंदों के चाबुकों के निशान दरिंदगी की गवाही के रूप में उभर आए थे। साथ ही महिलाएँ अपने ज़ुल्मों के साथ ही पुत्रवधू से किए दुराचार की गाथा सुना रही थीं। उन्होंने अनशन करने और भूख से मर जाने तक डटे रहने का निर्णय लिया, लेकिन रात को संपत के गाँव पहुँचने से स्थिति बदल गई। जो अपनी महिलाओं की सुरक्षा और सामाजिक इज़्ज़त की रक्षा करने के बजाय हथियारों से डरकर बुज़दिल बन जाएँ, यदि उनमें स्वाभिमान और इंसान होने की पहचान पैदा हो जाए तो हाथों को हथियारों से ताक़तवर बनाया जा सकता है। परंपराओं की हिंसा से मुक्ति का उपाय डर नहीं, प्रतिरोध है।

जंगल में पशु चराने वाली महिला कबूतरी से बातचीत करते हुए शोषण के इस तथ्य को उभारती है कि पाँच साल पहले ठाकुर से ऋण लेकर भैंस ख़रीदने के माह भर में ही ठाकुर ने पहले उनकी भैंस को ज़हर देकर मरवाया और फिर उसने क़र्ज़ वसूली हेतु स्त्री को घर और पुरुष को खेत में काम पर लगा दिया। उसका मक़सद कर्ज़ वसूली के बहाने स्त्री का शारीरिक शोषण यानि उसे 'आधी घरवाली' बनाना था। दोनों महिलाओं की बातचीत दर्द भरी और ख़ौफ़नाक है। 'आख़िर कब तक नाय करेगी। पानी में रहकर मगरमच्छ से कब तक बैर? ...मैं भी भौत दिनों तक 'नाय' करती रही थी पर...।...पर एक दिन हाँ कहनी ही पड़ी। जैसे उसके बहुत भीतर से स्वर उभरा हो। ...तब से मैं बड़े ठाकुर की आधी घरवाली हूँ।' वह आगाह करती है कि तुम अभी तक बची हुई हो लेकिन दरिंदों से बच नहीं पाओगी, जिसे सुनकर कबूतरी दु:खी और भयभीत थी। कबूतरी अस्मिता पर प्रहार करने वालों से कहती है – 'मैंने किसी से कोई करज-वरज नहीं लिया, जिसने लिया है वही देगा भी।'...वरना क्या करेगा तू? ...स्साली, चमारिन ठाकुर से जबान लड़ाती है।' उन्होंने कपड़े फाड़कर उसके वजूद को तार-तार कर दिया। ठाकुर और उसका परिवार दलित या कमज़ोर समुदायों की महिलाओं के प्रति यौन हिंसा का आदी था लेकिन आर्थिक निर्भरता और गुंडागर्दी के चलते कोई प्रतिरोध नहीं करता, जबकि प्रतिरोध ही भय मुक्ति की पहली कड़ी है। घटना के बाद लोग दुख जताने, कार्रवाई के लिए पुलिस में जाने और गाँव की बात को गाँव में ही निपटाने पर चर्चा करते हैं। समाज की कमज़ोर कड़ी यानि दलित स्त्रियों का शारीरिक शोषण बेहद निंदनीय, मानवीय गरिमा और मानवाधिकारों के विरुद्ध वर्ण-धर्म की ऐतिहासिक क्रूरता और हिंसा का उदाहरण है। यह भारतीय गणतंत्र में दलित महिला की हैसियत का हासिल है।

संपत भेदभाव और शोषण की ग्रामीण व्यवस्था द्वारा पैदा की गई परंपराओं, इसके प्रतीक मंदिर और हवेली, ज़मीन-जायदाद को चुनौती देने के लिए सामने आता है। वह 'पुलिस सबके लिए है। उस पर हर किसी की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी है' कहते हुए एफ़.आय.आर. के लिए पुलिस चौकी जाने को तत्पर है तो उसके पिता ठाकुर की ऊँची पहुँच और रसूख़ की वजह से मामले को बढ़ाने के हक़ में नहीं। संपत दलितों के राजनीतिक प्रतिनिधियों की निष्क्रियता को

रेखांकित करते हुए क्रांति करने के सवाल पर कहते हैं कि 'क्रांति करने वाले तो आज संसद और विधान सभाओं में जाकर सो गए हैं। ...हम कब तक कमज़ोर रहेंगे? कब तक ग़ुलामों की तरह रहेंगे।' दादा हरिया और बिरमों के समर्थन से उसका हौसला बढ़ा। बिरमों के पति की हत्या दस साल पहले ठाकुर ने की थी। अंततः वे सामूहिक राय से चौकी जाकर संज्ञेय अपराध की दास्तान पुलिस इंस्पेक्टर को बताते हैं तो वे इसे सुनते-सुनते ही उखड़ने और गर्माने लगते हैं। वे कार्रवाई के बजाय कबूतरी को धमकाते हुए कहते हैं 'अब और नंगा होना चाहती है क्या?' इंस्पेक्टर की शब्दावली का विरोध होने पर उसने सभी को हड़काया और मार-पिटाई पर उतर आया। 'दीवान जी लाना जरा मेरा डंडा। इन साले चमारों के होश ठिकाने लगाने ही होंगे।' कहते हुए वह उन पर पिल पड़ा। पहले लात फिर घूँसे। शेष तीनों भी डंडे उठाकर उन्हें मारने दौड़ते हैं।' इंस्पेक्टर त्यागी न्याय के लिए आए लोगों के साथ शोषकों की तरह जातिवादी और हिंसक व्यवहार करते हैं और उन्हें बदबू भरी जगह में बंद कर देते हैं। यह है भारत की पुलिस जो अपराधियों को दंड दिलवाने और जातीय हिंसा के शिकार लोगों के पक्ष में क़ानून लागू करने के बजाय मानवाधिकारों का हनन करती है। पुलिस इनकी हिम्मत बढ़ाने के बजाय इनका हौसला तोड़कर मानवाधिकार विरोधी व्यवस्था को संरक्षण देती है। कहानी समस्या के ख़िलाफ़ सामूहिक प्रयास करने पर बल देती है। पुलिस में जाने से शोषण की परंपरा को चुनौती मिलती है। ऐसी हिंसक घटनाओं पर क़ानूनी कार्रवाई के साथ-साथ विरोध प्रदर्शन होने चाहिए ताकि सामाजिक चेतना का विस्तार हो। क़ानून अपना काम करता रहे, लेकिन क़ानून पर भी निगरानी रखी जानी आवश्यक है। क़स्बे के जागरूक दलितों ने दिल्ली और लखनऊ तक इसका प्रचार करके पीड़ितों को छुड़वाया, डॉक्टरी करवाई और एफ.आई.आर. दर्ज करवाकर मानवीय गरिमा हासिल करने में मदद की।

कहानी का एक प्रश्न ग्रामीण व्यवस्था में मौजूद ज़लालत, ग़ुलामी, हिंसा और शोषण को लेकर है जिसे दलित समाज गणतंत्र के बाद भी झेलने को मजबूर है। अस्सी साल के वृद्ध हरिया जहाँ कहानी को वैचारिक नेतृत्व प्रदान करते हुए जवानों की बुज़दिली पर उन्हें लताड़ते हैं तो साथ ही उन्हें अन्याय से लड़ने की सलाह भी देते हैं। 'पर इस गाँव में मिला क्या उसे तथा उसकी जात के लोगों को। बार-बार बेइज़्ज़ती और ज़हालत की ज़िंदगी। उसे नफ़रत सी हो गई गाँव से। ठाकुर के लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी उनकी जात के लोगों पर अत्याचार करते रहें और वे उनकी ग़ुलामी।...गाँव में कितने लोगों के पास ज़मीन होगी। न ज़मीन, न घर, न कुआँ न पोखर। गंदे जोहड़ से पानी पीना पड़ता है आज भी। गाँव में कोई स्कूल भी नहीं, न डिस्पेंसरी, न ही डॉक्टर। क्या है आख़िर इस गाँव में।' गाँव में जातीय मानसिकता का बिन माँगे मिलने वाला रौब और दबदबा है जिसे कोई चाहे न चाहे मानना ही पड़ता है। कहानी दलितों की बलि देने संबंधी शास्त्रीय स्वीकृति और उसके लोक विश्वास (हवेली की नींव में दलित की बलि) को भी उजागर करती है। कहानी गाँव की जड़ों में बैठी 'बेगारी और बेइज़्ज़ती' को उभारती है। अब सवाल उठता है कि क्या विषमतावादी व्यवहारों में रची-बसी हिंसा को यों

ही गाँव की परंपरा मानकर इसका पालन किया जाए या इससे विद्रोह? क्या महिलाएँ ऐसे हिंसक माहौल में यों ही अपमानजनक जीवन जिएँ या इससे मुक्ति का पथ संधान करें? क्या इसी गाँव में ही रहा जाए या इसे छोड़कर शहर में बसा जाए या कोई नया गाँव बसाया जाए? क्या देश के क़ानून के बाहर भी इन्हें दंडित किया जाए या क़ानून पर भरोसा किया जाए? पंचायत में अनेक प्रश्न उठे। किसी ने उनकी महिलाओं से ही बदला लेने की माँग की तो किसी ने खेती, हवेली जलाने की या जानवर चोरी करने की। 'होस की बात कर हुकमी। तू पगला गया है क्या, म्हारी और उनकी बियरवानी क्या अलग-अलग हैं।' पंचायत ने महिलाओं की अस्मिता का सम्मान करने, हिंसा से दूर रहने, चोरी न करने, फ़सल यानि अन्न और घर जलाने का विरोध किया, क्योंकि इनका प्रतिहिंसा में नहीं, हिंसामुक्त समाज में विश्वास है। ये बुद्ध के पथ पर चलकर जीवन जीना चाहते हैं।

दलित कहानी संचयन

चयन एवं सम्पादन
रमणिका गुप्ता

आख़िर शहर में ऐसा क्या है जो उसे गाँव से अलगाता है? बेशक यहाँ पर भी धार्मिक परंपराएँ और पाखंडी लोक विश्वासों की कमी नहीं है लेकिन यहाँ पर गाँव जैसा दबाव और हिंसा नहीं है। यहाँ व्यक्ति अपने श्रम का मूल्य पाकर सम्मान से जी सकता है जबकि गाँव में कारोबार नहीं हैं और न ही उद्योग-धंधे। सामंती ग्रामीण जीवन में सम्मान या मरजाद की सबसे बड़ी सूचक ज़मीन ही है लेकिन इनमें हिस्सेदारी के अभाव में दलित सम्मान से भी वंचित रहते हैं। बाबा साहेब आंबेडकर ने इसी आधार पर गाँव के समाज और यहाँ क़ाबिज़ व्यवस्था की आलोचना करते हुए इससे मुक्ति का आह्वान किया था। शहरों में रोज़गार के कुछ अवसर हैं, जातपाँत के कड़े बंधन नहीं हैं तो रिहायशी दिक़्क़तें बहुत अधिक हैं। कबूतरी 'मेरा तो गाँव में कोई भी नई है' कहक़र एक नया विकल्प देती दिखाई देती हैं। अंततः हरिया ने सर्वसम्मत फ़ैसला सुनाते हुए कहा कि 'तो हम अपना नया गाँव बसाएँगे। ...'नया और अपना गाँव'...हियाँ से निकलना ही पड़ेगा। ...जिस गाँव में म्हारी कोई इज़्ज़त नई, उस गाँव में रैने से कोई फ़ायदा नई। ...चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा था। पर हरिया का फ़ैसला सुन पंचायत से उठे लोगों के भीतर अनायास ही जैसे उजाला हो गया था।' जातीय व्यवस्था से बाहर समतामूलक गाँव बसाने के विकल्प पर स्वयं बाबा साहेब ने भी माँग की थी कि आस-पास के गाँवों के दलितों को एक गाँव में बसाया जाए। ऐसा करने से गाँव के भीतर छुआछूत मिटेगी और लोक जीवन में मौजूद हिंसा का भी अंत होगा। लेकिन ऐसा हो न सका। नए गाँव का विकल्प

मानवाधिकार हासिल करने की दिशा में ही एक क़दम है।

कहानी मानवाधिकारों के सवाल पर मीडिया की भूमिका को रेखांकित करती है। मीडिया टीम ग्रामीण लोक के अभाव, सामाजिक जड़ता और ग़ैर-बराबरी को देखकर हतप्रभ है। गाँव में आकर सरकारी घोषणाएँ उन्हें दिखावा लगीं और वे मानते हैं कि अख़बार, मैगज़ीन को ग्लैमर, भ्रष्टाचार, शराब, पुलिस और बलात्कार इत्यादि की ख़बरें बेचने के बजाय सच के लिए गाँवों और दलित बस्तियों की ओर आना चाहिए। वे दलित बस्तियों की हालत जानकर और देखकर हैरान थे कि 'म्हारे जानवर और आदमी एक ही जगें का पानी पीवै हैं।' कहानी अपने अंतिम पड़ाव पर आकर सामाजिक संबंधों में दलित समाज की स्थिति का जायज़ा लेने के बाद मानवाधिकार विरोधी, स्त्री और दलित विरोधी, इंसान-इंसान में भेद करने वाले जातिवादी और हिंसक गाँव को छोड़कर अलग गाँव बसाने का संकल्प केवल अलगाव के लिए नहीं, बल्कि सामाजिक लोकतंत्र को मज़बूत करने के लिए करती है।

जयप्रकाश कर्दम : नो बार

यहाँ इस कहानी में मानवाधिकार संबंधी प्रश्नों पर विचार किया जा रहा है। प्रस्तुत कहानी पर टेलीफ़िल्म भी बनी हैं जिसे 8 मार्च, 2019 को प्रोफ़ेसर तुलसीराम मेमोरियल लेक्चर के अवसर पर जेएनयू में प्रदर्शित किया गया था। कहानी *टाइम्स ऑफ़ इंडिया* में छपे एक मैट्रीमोनियल से शुरू होती है जिसमें हाइली एजुकेटेड प्रोग्रेसिव फ़ैमिली की लड़की अनिता के विवाह हेतु 'कास्ट नो बार' के साथ विज्ञापन छपता है। आयकर विभाग के अधिकारी राजेश इसके लिए अपना बायोडाटा भेजते हैं और विवाह में जाति को महत्त्व न देने की सूचना के कारण राजेश जातीय विवरण नहीं भेजते। पहली मुलाक़ात के बाद लड़का-लड़की एक-दूसरे में रुचि दिखाते हैं और कई मुलाक़ातों के बाद वे विवाह के लिए रज़ामंदी देते हैं। अनिता के पिता ने कहा, 'देखिए राजेश जी, हम बड़े खुले विचारों के आदमी हैं जाति-पाँति, धर्म-संप्रदाय किसी प्रकार के बंधन को हम नहीं मानते। ये सब बातें पिछड़ेपन की प्रतीक हैं। हमारे परिवार में जितनी भी शादियाँ हुई हैं वे सब अंतर्जातीय हुई हैं। अब देखो, मैं ब्राह्मण हूँ और मेरी पत्नी कायस्थ परिवार से है। हमारी बड़ी बेटी की शादी अग्रवाल लड़के के साथ हुई है और हमारे घर में जो बहू आई है वह पंजाबी खत्री है। हमारी नज़र में लड़का और लड़की एक-दूसरे को अच्छी तरह देखें, परखें और बातचीत करें। यदि वे एक-दूसरे को पसंद करते हैं, एक दूसरे से संतुष्ट होते हैं और उन्हें लगता है कि वे एक-दूसरे के साथ एडजस्ट कर सकते हैं तो बस यही काफ़ी है। इसके अलावा सब चीज़ें गौण हैं।'

राजेश के पिता बेटे को जाति के सवाल को स्पष्ट करने की सलाह देते हैं ताकि आगे चलकर विवाद होने की संभावना न रहे। राजेश पिता को आश्वस्त करते हैं कि वे बहुत अच्छे इंसान हैं। 'सो तो ठीक है बेटा, पर क्या उनको पता है कि तुम किस जात के हो?' 'नहीं, न उन्होंने कभी पूछा और न कभी ऐसा मौक़ा ही आया कि मैं उन्हें बतलाता। दरअसल जाति-

पाँति और भेदभाव का यह रोग अनपढ़ लोगों में ही है, पढ़ा-लिखा समाज कहाँ जाति को मानता है। पढ़े-लिखे और शिक्षित समाज में व्यक्ति को जाति से नहीं, उसकी शिक्षा, योग्यता और उसकी आर्थिक स्थिति के आधार पर जाना और माना जाता है। और फिर, जब सवर्ण लोग स्वयं जाति के भेदभाव से ऊपर उठकर हमारे साथ घुल-मिल रहे हैं तो हमारे द्वारा अपनी ओर से जाति का ज़िक्र करने का कोई औचित्य नहीं है।' जातीय दुनियादारी और लोक व्यवहार की समझ देने के पिता के प्रयास को महत्त्व न देने का प्रमुख कारण लड़की पक्ष का जाति संबंधी नो बार का विज्ञापन और व्यक्तिगत मुलाक़ात के दौरान दिखाया गया खुलापन था। इसी वजह से वह उस परिवार की सामाजिक सोच, खुलेपन और लड़की के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर विवाह प्रस्ताव से सहमत था। उसका मानना था कि जब इस विवाह प्रस्ताव में जाति की भूमिका नकार दी गई है, तो हम जाति क्यों बताएँ? उसे लगता है कि बार-बार जाति की बात करना पिछड़ापन है। लेकिन राजेश के पिता मानते हैं कि ग़ैर-दलित लोगों के मन में अपनी जातीय अस्मिता और दलितों के प्रति जो मानसिक पिछड़ापन है वह इस सामाजिक एकता के मार्ग में बड़ी बाधा है और इसे जातीय वर्चस्व में जीने-मरने वाली जातियाँ ही बेहतर ढंग से तोड़ सकती हैं, क्योंकि यह समस्या और सामाजिक विभाजन उन्होंने ही बनाया है। कहानी संदेश देना चाहती है कि खुली और साफ़ सोच का दावा करने वाला ब्राह्मणवादी समाज अंतरजातीय विवाह के मामले में जाति नो बार लिखवाने के बाद भी जाति के सवाल पर आकर ही क्यों अटक जाता है? उनकी नज़र में अंतरजातीय विवाह का मतलब ग़ैर-बहुजन जातियों के बीच होने वाला विवाह ही है। ऐसी सोच और सवाल अनुचित व बेहूदा हैं। इस सैद्धांतिकी में पलने, बढ़ने और जीवन गुज़ारने वाला व्यक्ति तथाकथित पवित्रता और जातीय महिमा का ऐसा दायरा बना लेता है जिससे उसकी पहुँच सभी लोगों तक नहीं हो पाती।

यूपी की राजनीति में बने बहुजन समीकरण की बौखलाहट कहानी में उस वक़्त देखने को मिलती है जब राजेश बहुजन आंदोलन की तरफ़दारी करते हुए उसे जातिवादी मानने से मना कर देता है। 'सरकार का स्थाई होना ही ज़रूरी नहीं है। समाज और राष्ट्र के प्रति उसका दृष्टिकोण भी स्वस्थ, सकारात्मक और प्रगतिशील होना चाहिए। बीजेपी के बारे में यह धारणा है कि उसकी सोच सांप्रदायिक और विघटनकारी है। मुस्लिम और दलित बीजेपी को लेकर सशंकित हैं। ...बिहार में लालू और यूपी में मुलायम और मायावती बीजेपी के रास्ते में सबसे बड़ा हर्डल हैं।' जो ब्राह्मण पिता अख़बारी विज्ञापन में 'नो बार' लिखवाकर अपनी पुत्री का विवाह किसी अच्छे अधिकारी से करवाने को आतुर है वही पिता बहुजन जातियों की राजनीतिक हिस्सेदारी को सहन क्यों नहीं कर पा रहा है? और उन्हें जातिवादी और जातिवाद फैलाने वालों के रूप में क्यों पेश करता है? वह स्वयं अपनी प्रतिबद्धता बीजेपी में दिखाते हुए बहुजन राजनीति को जातिवादी क़रार देते हुए कहता है – 'बीजेपी ही क्या ये सारे समाज के रास्ते में हर्डल हैं। ये सब जातिवाद फैलाकर समाज को तोड़ रहे हैं। जाति की राजनीति कर रहे

हैं।' यह कहकर वह एक क्षण को रुके और फिर बोले, 'यह सब अच्छा-खासा चल रहा था। समाज प्रोग्रेसिव हो रहा था जातिवाद अपनी मौत मर रहा था। लेकिन वी.पी. सिंह के बच्चे ने मसीहा बनने के चक्कर में मंडल कमीशन लागू कर जातिवाद को फिर से ज़िंदा कर दिया। कोई देश की बात नहीं करता, सब अगड़े-पिछड़ों की बात करते हैं। लालू और मुलायम की तो फिर भी ग़नीमत है। कांशीराम और मायावती को देखो। ये तो बिन जाति के बात ही नहीं करते। वी.पी. सिंह ने आग लगाई, ये आग में घी डालकर उसे भड़का रहे हैं।'

नायक राजनीतिक प्रश्नों पर खुलकर राय रखते हुए सांप्रदायिक और जातिवादी राजनीति को देश और समाज के लिए बड़ा ख़तरा मानते हैं। वे बहुजन आंदोलन और राजनीति के पक्षधर हैं, 'नहीं, ऐसा नहीं है कि कांशीराम और मायावती जातिवाद को भड़का रहे हैं। जातिवाद तो समाज में पहले से मौजूद है। हर चुनाव में उम्मीदवारों के चयन से लेकर मंत्रिमंडल के गठन तक सब जगह जाति का फ़ैक्टर काम करता रहा है। हाँ, कांशीराम, मायावती या दूसरे नेताओं के आने से इतना अंतर अवश्य आया है कि पहले दलितों की अपनी पार्टी नहीं होती थी और उनका वोट कांग्रेस या दूसरी पार्टियों को जाता था। लेकिन आज उनकी अपनी पार्टी है और वे अपनी पार्टी को वोट दे रहे हैं।' राजनीतिक प्रतिबद्धता के सवाल पर दोनों की मत भिन्नता से उनके मध्य बनी तथाकथित वैचारिक एकता पर ख़तरा मँडराने लगा। राजेश की राजनीतिक दृष्टि को भाँपकर तथाकथित प्रोग्रेसिव और सेक्युलर पिता बौखलाहट में बेटी के पास जाकर राजेश की जाति पूछता है :

> 'इस लड़के की कास्ट क्या है?'
> 'आई कांट से पापा। मैंने उससे कभी पूछा ही नहीं।'
> 'फिर भी, बातचीत के दौरान कहीं कोई प्रसंग आया हो और तुमने कुछ नोट किया हो।'
> 'नहीं पापा मेरा तो इस ओर ध्यान गया ही नहीं। मैंने तो बस यही देखा कि उसका नेचर बहुत अच्छा है।...और फिर, हमारे ऐड में पहले ही 'नो बार' छपा था इसलिए उसकी कास्ट के बारे में जानने की या इस ओर ध्यान देने की कोई तुक ही नहीं था।'...जब हम जाति-पाँति को मानते ही नहीं तो फिर वह किसी कास्ट का हो उससे क्या फ़र्क़ पड़ता है।' लड़की ने सहजता से कहा। 'वह सब तो ठीक है कि हम जाति-पाँति को नहीं मानते और हमने मैट्री-मोनियल में 'नो बार' छपवाया था। लेकिन, फिर भी कुछ चीज़ें तो देखनी ही होती हैं। आख़िर 'नो बार' का यह मतलब तो नहीं कि किसी चमार-चूहड़े के साथ...।' तभी फ़ोन की घंटी बजी और वह फ़ोन सुनने के लिए ड्राइंग रूम में चले गए। अनिता वहीं खड़ी रह गई।'

'नो बार' जिस कालखंड और जीवन का चित्रण करती है वह 21वीं शताब्दी का यथार्थ है। दलित समाज की नई पीढ़ी के नौकरीपेशा युवाओं के सपनों और महत्वाकांक्षाओं ने उन्हें

अपने सामाजिक दायरों से बाहर निकलने के अवसर दिए हैं। इसी का परिणाम है कि जाति और धर्म के बंधनों को लेकर कड़वाहट कुछ कम हुई है, लेकिन यह समस्या जीवन के हर क्षेत्र में है। अन्यथा विवाह के मामले में जाति महत्त्वपूर्ण क्यों बन जाती है? यदि विवाह युवाओं की पसंद और रुचि से तय हों तो निश्चित रूप से भारत का नक़्शा बदल जाएगा। कहानी विवाह को परिवार की पसंद-नापसंद का सवाल बनाकर सामने लाती है और आधुनिक दिखने के दावों की कलई उस वक़्त उतरती है जब कोई दलित युवा उनके सामने चुनौती पेश करता है तो ऐसी आधुनिकता और प्रगतिशीलता को छुपने की जगह नहीं मिलती। विवाह परिवार के अलावा युवाओं की पसंद का मामला भी है। लेकिन सांस्कृतिक पिछड़ेपन के कारण प्रेम और प्रेम-विवाह को नकारना समाज की सच्चाई है। ब्राह्मणवाद का जातीय व्यवहार दलितों का मनोबल तोड़ने के साथ-साथ इनके लोकतांत्रिक अधिकारों, मानवाधिकारों के ख़िलाफ़ आपराधिक साज़िश भी है। सांप्रदायिक और विभाजनकारी ताक़तें आज भी आधुनिकता ओढ़कर उसी रास्ते पर चल रही हैं।

सुशीला टाकभौरे : सिलिया

सुशीला टाकभौरे की कहानी सिलिया मानवाधिकार संबंधी प्रश्न उठाती है। इन प्रश्नों में पानी की जातीयता क्यों? उसकी सार्वजनिक उपलब्धता पर रोक क्यों? और दलित लड़कियों से अंतरजातीय विवाह संबंधी सोच शामिल हैं। कहानी अंतरजातीय विवाह के 'शूद्रवर्ण की वधू चाहिए।' संबंधी *नई दुनिया* अख़बार के सन् 1970 के विज्ञापन के हवाले से बताती है कि भोपाल के जाने-माने युवा नेता सेठी जी, मैट्रिक पास अछूत कन्या से विवाह करके समाज के सामने एक आदर्श रखना चाहते थे। सिलिया के परिवार में भी इस विवाह को लेकर चर्चा हुई। बाहरी लोगों ने बेटी की क़िस्मत खुलने और राज करने के चिर-परिचित अंदाज़ के साथ सिलिया का नाम सुझाया लेकिन ऐसे प्रस्ताव पर उनकी माँ की टिप्पणी क़ाबिलेग़ौर है, 'नहीं भैया, यह सब बड़े लोगों के चोंचले हैं। आज समाज को और सबको दिखाने के लिए हमारी बेटी से शादी कर लेंगे और कल छोड़ दिया तो...? हम ग़रीब लोग उनका क्या कर लेंगे। अपनी इज़्ज़त अपने समाज में रहकर भी हो सकती है। उनकी दिखावे की चार दिन की इज़्ज़त हमें नहीं चाहिए। हमारी बेटी उनके परिवार और समाज में वैसा मान-सम्मान नहीं पा सकेगी।... हम तो नहीं देंगे अपनी बेटी को। हमीं उसको खूब पढ़ाएँगे-लिखाएँगे उसकी क़िस्मत में होगा तो इससे ज़्यादा मान-सम्मान वह ख़ुद पा लेगी ...अपनी क़िस्मत वह ख़ुद बना लेगी।' जहाँ मामला सामाजिक दूरी, सामाजिक घृणा, आर्थिक असमानता, दलित महिलाओं के शारीरिक शोषण से जुड़ा हो तो वैवाहिक संबंधों में परिवार संतान के भविष्य पर अधिक सोच-विचार करने के बाद ही किसी निर्णय पर पहुँचता है। परिवार विवाह के राजनीतिक प्रयोग को सामाजिक स्वाभिमान के ख़िलाफ़ मानता है। वे चाहते हैं कि सिलिया शिक्षित और आत्मनिर्भर होकर सामाजिक जागृति के ज़रिये मान-सम्मान अर्जित करे।

कहानी पानी के सार्वजनिक उपयोग के सवाल को उठाकर महाड़ आंदोलन की याद ताज़ा करती है। दुख का विषय है कि गाँव के समाज में जातियों की सामाजिकता और छोटे-बड़े होने के एहसास को पानी की शुद्धता से जोड़कर पेश किया जाता है, जबकि यह एक सार्वभौमिक मानवीय आवश्यकता है। सिलिया की ममेरी बहन मालती गाडरी मुहल्ले के कुएँ से पानी पीने की शिकायत पर माँ के हाथों पिटती है। बकरी पालने वाली गाडरी जाति द्वारा भंगी जाति को अपवित्र-अछूत मानना समाज के उस भयंकर वंशानुगत रोग का लक्षण है जिसे समाज सदियों से भुगत रहा है। माँ बेटी के बाल पकड़कर मार रही थी और कह रही थी, 'क्यों री तुझे नहीं मालूम, अपन वा कुएँ से पानी भर सके हैं? क्यों चढ़ी तू कुएँ पर, रस्सी बाल्टी को हाथ लगाई...'और वाक्य पूरा होने के साथ ही दो-चार झापड़ घूँसे और बरस पड़ते मालती पर। बेचारी मालती दोनों बाँहों में अपना मुँह छुपाये चीख़-चीख़ कर रो रही थी, साथ ही कहती जाती थी...ओ बाई, ओ माँ माफ़ कर दे, अब ऐसा कभी नहीं करूँगी...' बालिका सिलिया अपनी ममेरी बहन को इस तरह पिटते देखकर डरी-सहमी खड़ी थी। उसके मन पर जातीय शुद्धता संबंधी डर ने क़ब्ज़ा कर लिया था। इससे मालूम होता है कि दलित बच्चों के व्यवहार में एक ख़ास तरह की हीन ग्रंथि धीरे-धीरे विकसित होती रहती है क्योंकि समाज का व्यवहार इस तरह की हीन भावना के समर्थन में खड़ा दिखाई देता है। कहानी बताती है कि मालती पिटाई सहकर भी जातीय हीनता देने वाले व्यवहारों का अतिक्रमण करती है। इसे दलित बच्चों में पैदा होने वाली प्रतिक्रिया के रूप में देखा जाना चाहिए। सिलिया अध्यापकों के सामने अपने मामा की बस्ती का नाम हीनता बोध के कारण ही नहीं बता पाई थी। समाज द्वारा पैदा की गई हीनता के पीछे अधिकारों की लूट का खेल है। प्रबुद्ध होकर सभी क्षेत्रों में सामाजिक हिस्सेदारी पाकर इसे समझना आसान है, लेकिन हिस्सेदारी हासिल करने के लिए अज्ञानता और विषमता से लड़ना ज़रूरी है।

स्कूल टीम के साथ तहसील स्तर पर खेलने आई बालिका को सहेली हेमलता की बहन के घर तेज़ प्यास के बावजूद जातीय शुद्धता की वजह से पानी न देना मानवाधिकार का उल्लंघन है। यहाँ ठाकुर और भंगी का सवाल मानवीय आवश्यकता की पूर्ति में बाधा पैदा करता है। ऐसे व्यवहारों को सहकर बालिका की प्रतिक्रिया में प्रतिरोध झलकता है,'कितने मुखौटे लगाकर रहते हैं लोग। ...आख़िर मालती ने ऐसा कौन-सा जुर्म किया था? प्यास लगी, पानी निकालकर पी लिया। ...हेमलता की मौसी से वह पानी क्यों नहीं ले सकती थी? ...यह सेठी जी महाशय का ढोंग-आडंबर है या सचमुच वे समाज की परंपरा को बदलने वाले, सामाजिक बदलाव की क्रांति लाने वाले महापुरुष हैं? ...और फिर दूसरों की दया पर सम्मान...? अपने निजत्व को खोकर दूसरों की शतरंज का मोहरा बनकर रह जाना...बैसाखियों पर चलते हुए जीना...? नहीं, कभी नहीं...। ...अपना सम्मान हम ख़ुद बढ़ाएँगे...।' एक बालिका का विद्या और विवेक से परिपूर्ण संकल्प करना सामाजिक बदलाव का आधार है। कहानी द्विज संस्कारों के दोहरे आचरण पर सवाल उठाते हुए लोकतांत्रिक समाज-निर्माण को

महत्त्वपूर्ण मानती है। जहाँ झाड़ू की पहचान जाति से न हो और जहाँ जातीय काम-धंधों से पैदा हुई ग़ुलामी चेतना से टूट जाए। साहित्यिक सम्मान के दौरान पानी के गिलास को देखकर इन्हें पानी संबंधी तकलीफ़ें याद आने लगती हैं। वह सामाजिक विषमता से पीड़ित, अधिकारों और ज्ञान से वंचित, अपने इतिहास, वर्तमान और भविष्य से अनजान दलित जनता को चेतन और संघर्षशील बनाने के बारे में सोचने लगती है।

दयानंद बटोही : सुरंग

यह कहानी विश्वविद्यालयों में दलित छात्रों के प्रति रिसर्च के लिए दाख़िलों में होने वाली उपेक्षा, अपमान और भेदभाव को रेखांकित करते हुए गंभीरता से एहसास करवाती है कि यदि सामाजिक भेदभावों के ख़िलाफ़ सभी विद्यार्थी सामूहिक रूप से लड़ें तो ऐसे तत्त्वों को मुँह की खानी पड़ती है। आत्मकथात्मक शैली में लिखित कहानी के अनुसार शोध संस्थानों में दलित छात्र सामाजिक भेदभाव का शिकार इसलिए होते हैं क्योंकि प्रोफ़ेसर इनकी संवैधानिक हिस्सेदारी स्वीकार करने को तैयार नहीं। दाख़िलों में निश्चित सीट देने के लिए छात्र संघ का दबाव उस वक़्त काम आता है जब वे कुलपति से इसकी शिकायत करते हैं। उनके नोट से नायक के दाख़िले को मंज़ूरी तो मिल जाती है लेकिन उसकी फ़ीस भरने के लिए जनवरी के बजाय जुलाई में आने का आदेश दिया जाता है तो विद्यार्थी हिंदी विभाग के अध्यक्ष का घेराव करने की चेतावनी देकर लौट आता है, और जब वह छात्र संघ के पदाधिकारियों से अपनी व्यथा बताता है तो वे न केवल उसे समझते हैं बल्कि डॉ. विष्णु को चेतावनी देते हैं कि वे सामाजिक भेदभाव न करें। मुर्दाबाद के नारों की गूँज से घबराकर वे देर तक वॉशरूम में बंद रहते हैं लेकिन सामाजिक न्याय और मानवाधिकार की पक्षधरता के सामने आख़िरकार उन्हें झुकना पड़ा। अंततः देखने और सोचने की बात यह है कि संवैधानिक व्यवस्था को सहजता से स्वीकार करने और लागू करने में इतनी तकलीफ़ क्यों है? इसके पीछे विषमतावादी अध्यापकों की यह सोच काम करती है कि दलित छात्र अधिकार के तौर पर आरक्षण की माँग न करें, यदि वे अनुनय करते हुए आएँ तो उन्हें यह दिया जा सकता है, मगर अपने अधिकारों के प्रति जागरूक छात्र इसे मानने को तैयार नहीं। कहानी हायर एजुकेशन में किन्हीं ख़ास जातियों के एकाधिकार पर सवाल उठाते हुए दाख़िलों में हिस्सेदारी को संवैधानिक अधिकार के रूप में उठाती है और हासिल करती है।

कहानी के कई सवालों में से एक सवाल यह है कि छात्रों के बीच पीएच.डी. दाख़िलों में समानता क्यों नहीं है? ग़ैर दलित छात्रों के दाख़िलों का आधार क्या जाति, वर्ण या सामाजिक प्रभुत्व नहीं है? आख़िर प्रोफ़ेसर विद्यार्थियों की सामाजिक अस्मिता के प्रति हमलावर क्यों हैं? 'एक दूसरे को जब तक हम नहीं जानते तब तक खूब गोल-गोल बातें करते हैं लेकिन ज्योंही जाति की गंध लोगों को मिलती है लोग सूअर जैसा मुँह निपोरने लगते हैं। जाति की गंध टाइटिल से मिलाते हैं यदि टाइटिल नहीं है तो रंग, पहनावा पर धावा बोलते हैं। मेरे शरीर

में ज़हर फैल जाता है जाति ठेकेदारों से जाति पूछने पर।' दूसरा सवाल यह कि अपने को लोकतांत्रिक और समानता के पक्षधर दिखाने के लिए अपने कार्यालयों में प्रेमचंद, मुक्तिबोध, आंबेडकर, गाँधी, व बुद्ध के चित्र तो लगाते हैं लेकिन निगाह इस पर रहती है कि आप क्या लिखते हैं? यानि लेखन से पहचान। डॉ. विष्णु, डॉ. सुखदेव, डॉ. पासवान और शोधार्थी के बीच हो रही बातचीत छात्र को यही एहसास करवाती है। हरिजन पर चर्चा चलते देख वह कह देता है कि 'आप लोगों को क्या लग रहा हूँ। अंततः वे इस निष्कर्ष पर पहुँच ही जाते हैं कि सामने वाला कौन है। वे सामाजिक धोखेबाज़ी को जारी रखना चाहते हैं – 'सरकार ने भले क़ानून बना दिया हो, घोड़े की रस्सी तो हम सभी के हाथ में है। आपका रिसर्च में नहीं होगा। मेरी ओर देखकर कहा। लगा मुझे ज़िंदा जला देना चाहते हैं।' छात्र के मन में अपने शोषण और ग़ुलामी की परंपराओं के अनेक ख़्याल आए, सोया हुआ दर्द पिघलने लगा और यह पूछने पर कि रिसर्च क्यों नहीं करने देंगे? तो उनकी साँस फूलने लगती है। 'बात बढ़नी स्वाभाविक है क्योंकि खौलते कड़ाह में एक बैगन को डाला जा रहा है।' जब छात्र टेबुल पर हाथ मारते हुए कुतर-कुतर कर दलितों को 'खाने डकारने और अब पचेगा नहीं' कहते हुए वहाँ से निकले तो विभागाध्यक्ष उन्हें 'शट अप' से डाँटते हैं। उनका चश्मा उतारना, टाई ठीक करना, चेहरे पर कँपकँपी और सुर्ख़ होने के बीच वाइस चासंलर के पास जाने को कहना एक तरह से उस संभावित भय को दर्शाता है जिसके पीछे झूठे जातीय गौरव से भरे अवैधानिक कार्य छुपे हुए हैं।

कहानी सवाल यह उठाती है कि जब दलितों को संवैधानिक अधिकार नहीं मिल रहे हैं तो आख़िर इसके लिए ज़िम्मेदार कौन है? सरकारें इनके कल्याण का ढिंढोरा क्यों पीट रही हैं? इसी मुद्दे पर छात्र विभागाध्यक्ष से उलझते हुए कहता है, 'सरकार की तथा मानवता की आँख में धूल झोंक रहे हैं। मुझे आप रिसर्च नहीं करने दें कोई बात नहीं। लेकिन कोटा आपको पूरा करना है।' यह सवाल बेहद ज़रूरी है कि आख़िर जिसे भी मिले, लेकिन हिस्सेदारी तो देनी ही होगी। विश्वविद्यालय को जवाब तो देना ही होगा। आख़िर सरकारी धन पर दलितों का भी उतना ही हक़ है जितना अन्य का। नायक का यह कहना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि 'अँधेरे का सैलाब फाड़कर अपना अधिकार लेंगे।' संदेश है कि दलित या समाज के कमज़ोर वर्गों के प्रति होने वाले अन्याय या हिंसा के विरुद्ध सभी नागरिकों को आगे आना होगा। छात्र संघ की सकारात्मक भूमिका को दर्शाती यह कहानी जयशंकर, नागेंद्र वर्मा, गंगा झा, रघुनाथ सिंह जैसे यूनियन पदाधिकारियों द्वारा पीड़ित दलित छात्र के पक्ष में खड़े होकर कुलपति और विभागाध्यक्ष के पास जाकर उसका दाख़िला सुनिश्चित करवाना सुखद और रोचक अनुभव है। लेकिन साथ ही यह भी सत्य है कि घोर विषमतावादी समाज में ऐसा होना किसी करिश्मे से कम नहीं है। जो भी हो, लेकिन यह होना चाहिए और देश को इसकी बहुत अधिक ज़रूरत है। 'विभागाध्यक्ष का यह कहना कि 'जो चाहे करो। जब तक हूँ, हरिजनों को रिसर्च करने नहीं दूँगा।' कुलपति मिश्रा ने न चाहते हुए भी 'हेड प्लीज़ कंसीडर द केस' तो लिखा लेकिन

विभाग द्वारा उसका दाख़िला जनवरी के बजाय जुलाई में टालने पर आख़िर छात्रों के घेराव रूपी प्रतिरोध ने ही निष्कर्ष पर पहुँचाया। जिन्हें पहले मौक़े मिल गए वो आगे निकल गए, वही सभ्य हो गए, लेकिन आगे निकले हुए लोग अन्य को भी आगे आने दें। 'दही का रखवाला बिलाड़' होने का मतलब है वही सारा दही खा जाएगा। लेकिन छात्रों के प्रतिरोध के आगे सामाजिक प्रतिनिधित्व का विरोध करने वाले 'बिलाड़' प्रशासन को मुँह की खानी पड़ी। 'मैं तो चाहता हूँ कि सभी जातियों के लोग तरक्की करें... आप तो जानते ही हैं गाँधीवादी हूँ उनके आश्रम में कुछ दिन रह चुका हूँ।' भेदभावजनित सामाजिक जड़ताएँ इतनी अधिक फैल चुकी हैं कि बिना दबाव के कोई संवैधानिक बात भी मानने को तैयार नहीं है। यह देखना बड़ा रोचक है कि अभी तक अधिकार छीनने पर अड़े हुए लोग दबाव पड़ने पर कितनी जल्दी पाला बदलते हैं और गाँधीवादी भी बन जाते हैं। क्या गाँधीवाद यही है?

कहानी दलित छात्रों के सामने पढ़ाई के लिए आवश्यक धन की कमी को उठाती है। घरों की आर्थिक परेशानियों के कारण इन्हें ख़ुद, माता-पिता, पत्नी और संतानों के ख़र्च वहन करने के लिए अतिरिक्त उपाय करने पड़ते हैं। भोजन के लिए आवश्यक पैसों का भी अभाव बना रहता है। 'मैं पुनः सोचने लगता हूँ आख़िर अँधेरी सुरंग में हम लोग कब तक रहेंगे।' घर से चिट्ठी का आना और वहाँ की आर्थिक बदहाली के साथ अकाल की हालत का वर्णन, बँधुआ मज़दूरों का गाँव छोड़कर शहर भागना, दलित होकर पढ़ाई करने पर व्यंग्य को झेलकर, परिवार के लिए धन का प्रबंध करने में असफल होकर ख़ुद ही गाँव चले जाना गंभीर दबाव का सूचक है जिसे झेलते हुए उन्हें आगे की पढ़ाई करनी है। ऐसी स्थितियों में रहकर आगे बढ़ना क्या सचमुच विस्मयकारी नहीं है? और विशेष रूप से जब समाज और प्रशासन में बैठे लोग दलित, आदिवासी, पिछड़े समाज के हक़ों के ख़िलाफ़ जहर उगलते हों। लेखक ने पिछड़े-अगड़े लोगों के लिए 'हरिजन-दुर्जन' शब्द का प्रयोग किया है जो ख़ुद इनके सामाजिक वजूद का द्योतक है। एक बात यह कि विश्वविद्यालयों की यौन शोषण संबंधी घटनाओं में प्रो. विष्णु जैसे लोगों का फँसना बताता है कि बार-बार सिस्टम का दुरुपयोग करने वाले कभी-कभार पकड़ में भी आ सकते हैं।

'सुंरग' जहाँ विश्वविद्यालय स्तर की शोध शिक्षा में व्याप्त भ्रष्टाचार पर सवाल खड़े करती है, वहीं यह भी बताती है कि इसका कारण हमारी सामाजिक विषमता और दुर्भावनाएँ हैं। संपूर्ण समाज को शिक्षित होने या बराबरी का दर्जा प्राप्त करने में किसका नुक़सान है? जो लोग पीछे रह गए हैं उनको आगे लाने में जहाँ राज्य की तरफ़ से प्रावधान किए गए हैं वहीं समाज का भी फ़र्ज़ है कि वह इनके प्रति सहज और सहृदय रहे। छात्रों का सामाजिक हिस्सेदारी के समर्थन में खुलकर साथ आना सुखद है चाहे इसके पीछे छात्र संघ चुनाव का ही मुद्दा हो या कोई और। जातीय विषमता से निर्मित शोषण से मुक्ति हेतु उठाए गए सवाल वर्षों बाद भी हल नहीं हो पाए हैं और लेखक इसके लिए सामाजिक दृष्टि को ज़िम्मेदार मानते हैं। मेरे प्रति ऐसी दृष्टि जैसे 'आदमी न होकर कोई अन्य जीव हूँ। फिर भी मैंने हार नहीं मानी और न ही मान रहा हूँ।' सबसे ज़रूरी है कि सामाजिक सद्भाव और समानता जिसके बिना कोई भी देश या समाज

न तो सामाजिक-आर्थिक विषमताओं को मिटा सकता है और न ही नागरिकों में राष्ट्रीय भावना का विकास कर सकता है। आँकड़े बताते हैं कि समस्या आरक्षण या अधिकारों, संसाधनों का सामाजिक बँटवारा नहीं, बल्कि यह है कि देश के एक प्रतिशत लोगों के पास 300 लाख करोड़ रुपये हैं और 99 प्रतिशत लोगों में से 40 प्रतिशत लोग ग़रीबी की रेखा से नीचे जीवन-यापन करते हैं और शेष भी कोई सम्मानजनक जीवन जीने की हालत में नहीं हैं। जबकि देश की जीडीपी 200 लाख करोड़ है और भारत का सालाना बजट 30 लाख करोड़ है।

विश्लेषित पाँचों कहानियाँ उतर भारत के दैनिक जीवन में केंद्रित सवालों पर गंभीरता से विचार करती हैं। 'सलाम' यह बताती है कि जातीय श्रेष्ठता में डूबे या आनंदित लोगों पर जब यही जाति व्यवस्था प्रहार करती है तो उनके होश ठिकाने आने लगते हैं। उन्हें यह समझने में देर नहीं लगती कि यह समाज विरोधी संस्था है। साथ ही कहानी हीनता बोध पैदा करने वाली अमानवीय रूढ़ियों पर प्रहार करते हुए दलितों के भीतर उभर रही साम्प्रदायिक सोच को उजागर करती है। 'अपना गाँव' गाँव के सामंती जीवन में क़ायम स्त्री और दलित स्त्री विरोधी स्वर को बाहर निकालते हुए, पितृसत्ता से सवाल करते हुए मानवाधिकार विरोधी गाँव को त्यागकर अलग गाँव बसाने की राह देती है। 'नो बार' विवाह के लिए जीवन साथी की तलाश के मार्ग में खड़े शोषण पर चिंतन करती हुए अंततः इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि युवाओं की रज़ामंदी के बाद भी शुद्धता की सोच का सम्मानजनक सामाजिक संबंधों पर पहरा बेहद ग़ैर-ज़रूरी और सामंती है। 'सिलिया' का मुद्दा यह है कि सामाजिक सम्मान तभी हासिल हो सकता है जब देश के सभी बच्चे और युवा शिक्षा केंद्रों में जाएँगे। कहानी अंतरजातीय विवाह और पानी की सार्वजनिक उपलब्धता के साथ लैंगिक शोषण और असमानता पर भी विचार करती है। 'सुरंग' शिक्षा व्यवस्था की वह गुफा है जिसने दलित समाज की प्रतिभा को हमेशा उलझाकर और रास्ते पर आने से रोककर रखा है, लेकिन चेतनाशील युवा संविधान विरोधी ताक़तों के ख़िलाफ़ सामूहिकता के बल पर इस सुरंग को फोड़कर बाहर आ रहे हैं। दलित कहानियों में ब्राह्मणवादी सांस्कृतिक संरचना के विरुद्ध मानवाधिकारों की ज़ोरदार माँग है। इस व्यक्ति-निर्मित ग़ैर-बराबरी को ढहाकर ही सामाजिक समानता या लोकतंत्र को मज़बूत किया जा सकता है। मानवीय गरिमा के प्रश्न दलित-बहुजन इसलिए उठाता है क्योंकि यही इनसे अधिक पीड़ित है। यह जातीय विभाजन, असहिष्णुता और हिंसा मानवीय गरिमा के विरुद्ध है और इसे ग़ैर बहुजन जातियों ने पैदा किया है। दलित कहानियों की विषयवस्तु, सैद्धांतिकी, संवेदना और सरोकारों पर विचार करते हुए रामचंद्र लिखते हैं, 'दलित कहानियों के बहुविध विषयों को किसी बने-बनाये ढाँचे, परंपरागत भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य-सिद्धांत, मानदंड या कसौटियों पर नहीं परखा जा सकता। दलित कहानियों के कथ्य और उद्देश्य भारतीय समाज की असलियत की परतों को खोलते हैं, दलित चेतना को व्यापकता देते हैं तथा सही मायनों में साहित्य की संवेदना और सरोकारों से जोड़ते हैं। दलित कहानियाँ परिवर्तनकामी स्वरों के साथ समतापरक अखंड भारत की आकांक्षा का मार्ग प्रशस्त करती

हैं। यह समाज को जोड़ने की उम्मीदों की कहानियाँ हैं। बस ज़रूरत है गहरे आत्मबोध एवं संवेदनशीलता के साथ उन आवाज़ों को सुनने, पढ़ने और मनन करने की तथा बदलाव के लिए सार्थक पहल करने की।'

कुछ सवाल-कुछ निष्कर्ष

दलित कहानियों की अंतर्वस्तु समाज, देश व मनुष्य विरोधी, वर्ण-धर्म व जातीय ढाँचे और इससे बनी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक विषमताओं में पिसते दलित जीवन के रोज़मर्रा के गहरे और गंभीर व्यवहारों से निर्मित है। इनका शिल्प भी दलित समाज के व्यवहारों में मौजूद भाषा, प्रतीकों व उपमाओं से बना है। इसलिए हो सकता है कि किसी ग़ैरदलित पाठक और आलोचक को ये कहानियाँ परंपरा विरोधी इसलिए लग सकती हैं, क्योंकि उसने और उसके पुरखों ने ऐसा घुटनभरा जीवन नहीं जिया। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि ये समाज का हिस्सा नहीं हैं। ये कहानियाँ करोड़ों-करोड़ लोगों के जीवन की आशाएँ हैं और इनमें मनुष्यता की पक्षधरता चलती-फिरती दिखाई देती है। यहाँ पात्रों की जद्दोजहद अधिक तीव्र और कलात्मक है। कहानियों में चित्रित वातावरण इससे पहले साहित्य में नहीं देखा गया। इनके संवादों में प्रस्तुत भाषा और कहन का ढंग स्थापित साहित्य के लिए नया है। कथानकों में प्रयोगधर्मिता है।

शोषण के विभिन्न रूपों को चित्रित करने में मराठी कहानियाँ हिंदी कहानियों से आगे दिखाई देती हैं। जैसे 'जब मैंने जाति छुपाई' और 'सलाम' की तुलना यदि अंदाज़-ए-बयाँ की दृष्टि से की जाए तो 'जब मैंने जाति छुपाई' शीघ्रता से हमारे मर्म को अपनी गिरफ़्त में लेकर लक्ष्य की ओर चलती है। दोनों प्रमुख दलित पात्रों के बीच जिस तरह की अघोषित मित्रता और आपसी ख़्याल रखने की प्रवृत्ति उभरती है, वह अद्भुत और बेजोड़ है जबकि आक्रोशी स्वभाव के सकपाल लगभग अंत में जाकर नायक की पहचान से वाक़िफ़ होते हैं। 'सलाम' भी अपने लक्ष्य में सफल है। यहाँ कमल उपाध्याय की जातीय शोषण से बचने की जद्दोजहद उसे अपमान और हिंसा से बचा नहीं पाती। समझने की बात यह भी है कि कमल सब कुछ जानते हुए भी माँ द्वारा हरीश को अलग बर्तनों में खाने-पीने का सामान देने को एक हिंदू रिवाज मानकर चुप ही रहता है। आप कितने बड़े बने घूमते रहें, कोई न कोई आपसे बड़ा मिल ही जाएगा जो मौक़ा मिलते ही आपका वजूद छीन लेगा। जैसे भी हो आपको हैसियत बता ही देता है और इससे बचने का कोई भी तरीक़ा नहीं है सिवाय जाति संस्था के ख़ात्मे के। लेकिन इसे बनाने वाले इसे समाप्त करने को राज़ी नहीं, क्योंकि ये इसका आनंद लूट रहे हैं और हैरानी की बात यह है कि इससे दुखी लोग इससे शोषित होकर भी अज्ञानतावश अपनी-अपनी जातियों पर गर्व करने में लगे हुए हैं। दोनों कहानियों के शिल्प में नयापन है जो एक ट्रिक से बनता और चलता है और कहानियों के अंत तक छाया रहता है। यह भी कह सकते हैं कि मराठी दलित कहानी की छाप हिंदी दलित कहानी पर स्पष्ट दिखती है।

दलित कहानियाँ व्यापकता में मानवाधिकारों के प्रश्न खड़े करती हैं और लोक जीवन में समानता हासिल करने संबंधी सवालों को हल न करना किसी भी राज्य और समाज के लिए ख़तरनाक साबित हो सकता है। देख ही रहे हैं कि यह सब भारत के समाज में हमारी आँखों के सामने खुली रोशनी में घट रहा है। वृहद समाज के पास गरिमामय जीवन-यापन करने के अधिकार आज तक नहीं हैं। सामाजिक समानता हासिल करने के अतिरिक्त शोषण के विरुद्ध अधिकार, धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकारों पर भी कहानियाँ नई वैचारिक ऊर्जा के साथ उपस्थित हैं।

दलित कहानियों की भाषा का सवाल हमेशा विमर्श की माँग करता है। सबसे पहले हमें यह जानना चाहिए कि दलित समाज की संरचना ब्राह्मणवादी संरचना से मेल नहीं खाती। दोनों के बीच सामाजिक संबंधों की दृष्टि का भेद है। हिंदू जातीय ढाँचा सांस्कृतिक शुद्धता के झूठे-फ़रेबी तौर-तरीक़ों को दैनिक जीवन में उतारकर ख़ुद को महत्त्वपूर्ण रखते हुए दलित-बहुजन समाज से ख़ास तरह की सामाजिक दूरी बनाकर उसका शोषण करता है और इसके पास धर्म-शास्त्रों के हथियारबंद नायक व उनकी मनुष्यता विरोधी दृष्टि है। दूसरी तरफ़ दलित साहित्य हिंदू जातीय ढाँचे की ग़ैर-बराबरी को नकारते हुए सभी शोषितों को एक मंच पर लाकर अपनी मुक्ति की राह धार्मिक आस्थाओं और शुद्धता के घटाटोप के अंत और संबंधों की समानता में खोजता है। इसके चिंतन में बौद्ध दर्शन, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और संविधान की समतामूलक और तार्किक दृष्टि है। इन्हीं से दोनों की साहित्यिक भाषा का निर्माण होता है। एक जहाँ व्यक्ति को महत्त्व देने की अपेक्षा अदृश्य सत्ता की बातें करते-करते देव को ज़मीन पर उतारकर उस दर्शन में चिकनी-चुपड़ी बातें करता है, तो दूसरा व्यक्ति की सामाजिकता और तार्किकता के आधार पर दुनिया को सुखी और चेतना संपन्न बनाना चाहता है। एक की भाषा में अदृश्य लोक के सुर और सुंदरी सौंदर्य के प्रतिमान बनकर आते हैं तो दलित साहित्य की भाषा में दृश्य लोक में गरिमामय जीवन जीने की जद्दोजहद, सत्यता और न्याय से जुड़े प्रतिमान घूम-घूमकर आते हैं। यह केवल सामाजिक दूरियों का ही नहीं, साहित्यिक सोच की दूरियों से जुड़ा मामला भी है। एक देव भाषा (जो भारत के किसी राज्य की प्रथम भाषा नहीं है) को उद्धृत करके सम्मान पाना चाहता है तो दूसरा जनभाषा को अपनी लेखनी की नोक पर उठाकर संघर्ष बुनता है। दलित कहानियों की भाषा में सामाजिक-आर्थिक बराबरी के सपने हैं, पितृसत्ता से लड़ने का माद्दा है तो ज्ञान परंपराओं पर विषमतावादी परंपराओं के क़ब्ज़ों से मुक्ति का संकल्प है। इसी संपूर्ण लोक से दलित कहानियों की भाषा निकलती है। दलित कहानियों में प्रयुक्त तथाकथित अशिष्ट या भद्दे कहे जाने वाले शब्दों का प्रयोग ज़बरदस्ती नहीं, शोषण को रेखांकित करने के एवज़ में ही हुआ है। यहाँ प्रतिकार और प्रतिरोध न्याय के पक्षधर बनकर आते हैं। सबसे बड़ी बात यह कि इन्होंने सौंदर्य के मनुष्य केंद्रित और समता, स्वतंत्रता, मैत्री और न्याय आधारित मानक ख़ुद तय किए हैं।

लोकतांत्रिक युग में भी अनेक सामाजिक संस्थाएँ मानवाधिकारों के ख़िलाफ़ हैं और ये

अपने जंगलीपन और बेहयाई के साथ हमारे बीच मौजूद ही नहीं, सरकारी, ग़ैर-सरकारी सभी कार्यस्थलों पर अपना पाठ दोहराती देखी जा सकती हैं। संविधान प्रदत्त अधिकारों का प्रयोग करने पर सख़्त दंड प्रावधानों वाले मुक़दमे लगातार बढ़े हैं। यह ढाँचा मानवीय गरिमा, मानवीय स्वतंत्रता, सामाजिक-आर्थिक समानता, भाईचारे और प्रेम जैसे वैश्विक मूल्यों का सैद्धांतिक तौर पर विरोधी है, यानि सामाजिक लोकतंत्र और मानवाधिकारों के ख़िलाफ़ है। तथाकथित सामाजिक-सांस्कृतिक पवित्रता का यह समूचा मिथक फ़र्ज़ी और बुद्धिविरोधी है और आंबेडकर के अनुसार इसके शोषण से मुक्ति का एकमात्र उपाय इस ढाँचे के अंत से ही संभव है। इतिहास बताता है कि किसी समाज या लोक को हमेशा दबाकर नहीं रखा जा सकता। वक़्त आने पर समाज की सोच बदलती है, हाँ इसमें शताब्दियाँ भी लग सकती हैं। जोतिराव फुले द्वारा 1848 में पुणे से चलाए गए पहले विद्यालय से देखें तो यह 173 साल पहले की घटना है जो आज भी हाशिए पर पड़े समाज के भीतर चिंगारी पैदा करती है, साहित्यिक कथानकों में जान भरती है। और सामाजिक चेतना के निर्माण में इन्हीं चिंगारियों की ऐतिहासिक भूमिका है। अतः मराठी और हिंदी की दलित कहानियों ने मनुष्य, मनुष्यता और मानवाधिकारों के पक्ष में जीवन की आलोचना करते हुए अपनी जन प्रतिबद्धता साबित की है।

संदर्भ

अर्जुन डांगले, *बुद्ध ही मरा पड़ा है*, रमणिका गुप्ता (सं.), दलित कहानी संचयन : 222.

आनंद तेलतुंबड़े (2016), *आंबेडकर और दलित आंदोलन* (अनु.) कृष्ण सिंह, ग्रंथ शिल्पी दिल्ली : 64-65.

आर. के. काले (2006), *हायर एजुकेशन ऐंड डिवेलपमेंट ऑफ़ द नेशन*, खंड-44, 14-20 अगस्त, युनिवर्सिटी न्यूज, नई दिल्ली.

ओमप्रकाश वाल्मीकि (2016), *सलाम*, (सलाम कहानी संग्रह), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली : 10-11.

कँवल भारती, *दलित विमर्श की भूमिका*, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण : 26.

कांचा इलैय्या, हिंदुत्व-मुक्त भारत : 240.

कांचा इलैय्या (2017), *हिंदुत्व-मुक्त भारत* (अनु.), आर. चेतनक्रांति और संजय कुमार कुंदन, भूमिका से, सेज भाषा, नई दिल्ली.

गेल ऑम्वेट, दलित दृष्टि, प्रस्तावना से.

गेल ऑम्वेट, *जाति की समझ : महात्मा बुद्ध और बाबा साहेब आंबेडकर और उनके बाद* (अनु.) नलिनी बंसल : 104.

जयप्रकाश कर्दम (2016), *नो बार*, रामचंद्र व प्रवीण कुमार, (सं.) *दलित चेतना की कहानियाँ*, ईशा ज्ञानदीप, नई दिल्ली : 140.

ज्याँ द्रेज़ और अमर्त्य सेन (2019), *भारत और उसके विरोधाभास : शुरुआत से पहले*, (अनु.), अशोक कुमार, राजकमल पेपरबैक्स दिल्ली : 14.

तेज सिंह (2010), *आंबेडकरवादी साहित्य की अवधारणा*, लोकमित्र, दिल्ली : 50-51.

दया पवार, *सलीब*, रमणिका गुप्ता (सं.), दलित कहानी संचयन : 168.

दयानंद बटोही, *सुरंग*, रमणिका गुप्ता, (सं.) दूसरी दुनिया का यथार्थ : 263.

गेल ऑम्वेट (2018), *जाति की समझ : महात्मा बुद्ध और बाबा साहेब आंबेडकर और उनके बाद* (अनु.) नलिनी बंसल, ओरियंट ब्लैकस्वान हैदराबाद : 101.

मानवाधिकार आयोग की वेबसाईट विकीपीडिया डॉट ओ.आर.जी. दिनांक 22.05.2020. तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी (अनु.) प्रशांत पांडे, जोति चरित : 49-56, एनबीटी नई दिल्ली, 2006, दूसरी आवृति 2018.

मोहनदास नैमिशराय (1997), अपना गाँव, रमणिका गुप्ता, (सं.) दूसरी दुनिया का यथार्थ, नवलेखन प्रकाशन हज़ारीबाग़ : 55.

मुद्राराक्षस (2004), *धर्मग्रंथों का पुनर्पाठ*, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद : 12.

बंधु माधव, *ज़हराली रोटी*, रमणिका गुप्ता (सं.), दलित कहानी संचयन : 202.

बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर संपूर्ण वाड्मय खंड-1 (2013), डॉ. आंबेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली : 81.

बाबू राव बागुल (2003), *जब मैंने जाति छुपाई*, रमणिका गुप्ता (सं.), दलित कहानी संचयन, साहित्य अकादेमी दिल्ली : 208.

युद्धरत आम आदमी (1996), अक्टूबर-दिसंबर, दिल्ली, अंक-26 : 26.

रामचन्द्र गुहा (2012), *मेकर्स ऑफ़ मॉडर्न इंडिया*, पेंगुइन बुक्स इंडिया, गुड़गाँव : 221-222.

रजनी कोठारी (2004), *जाति के भूमंडलीय पहलू*, अभय कुमार दुबे (सं.), *आधुनिकता के आईने में दलित*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली : 396.

रामचंद्र व प्रवीण कुमार, (सं.) *दलित चेतना की कहानियाँ* (भूमिका) : 12.

वी. षमुगम (2014), *हिंदू वर्चस्व का नरक*, (हिंदू हेजेमनी : ऐन एनालिसिस ऑफ़ सोशियो-इकनॉमिक कंडीशंस ऑफ़ इंडियन कम्युनिटीज), हिंदी (अनु.), भगीरथ, सम्यक प्रकाशन, दिल्ली : 76.

संविधान सभा के वाद-विवाद, पुस्तक संख्या 1, खंड-1-3, (अंक1 संख्या 7) लोकसभा सचिवालय, नई दिल्ली, 2015.

सुशीला टाकभौरे, *सिलिया*, रामचंद्र व प्रवीण कुमार, (सं.) दलित चेतना की कहानियाँ : 255.

शरण कुमार लिंबाले (2000), दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन, दिल्ली : 45.

शरण कुमार लिंबाले, *जाति न पूछो*, रमणिका गुप्ता (सं.), दलित कहानी संचयन : 227.